आलोचनात्मक अध्ययन—

भाषा-विज्ञान
एवं
हिन्दी भाषा का इतिहास

(प्रश्नोत्तर रूप में)

प्रा० लेखक

प्रो० भारतभूषण 'सरोज' एम० ए०, साहित्यरत्न

(Shridhar Gold Medalist)

अध्यक्ष—हिन्दी विभाग, रामजस कालेज, दिल्ली।

लेखक

श्रीमती सरोज वर्मा एम० ए०, साहित्यरत्न

प्रकाशक

हिन्दी साहित्य संसार

नई सड़क, दिल्ली

द्वितीय परिवर्द्धित एवं संशोधित संस्करण] १९५८ { मूल्य २॥)

प्रकाशक
रामकृष्ण शर्मा
अध्यक्ष-हिन्दी साहित्य संसार
नई सड़क, दिल्ली ।

प्रथम संस्करण १९५७
द्वितीय संस्करण १९५८

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

मूल्य ढाई रुपये
अथवा
"दो रुपये पचास नये पैसे"

मुद्रक
नया हिन्दुस्तान प्रेस,
चाँदनी चौक, दिल्ली

द्वितीय संस्करण का प्राक्कथन

प्रस्तुत पुस्तक को विद्यार्थी-समाज ने किस उत्साह से अपनाया है कि पुस्तक का प्रथम संस्करण एक वर्ष से भी कम समय में समाप्त हो गया और द्वितीय संस्करण की माँग की जा रही है। श्रीमती सरोज ने इस संस्करण का भली प्रकार संशोधन कर दिया है। प्रथम संस्करण की मुद्रण सम्बन्धी अशुद्धियाँ प्रायः दूर कर दी गई हैं। इस संस्करण में सात नये प्रश्नों के उत्तर भी बढ़ा दिए गए हैं। इससे पुस्तक की उपयोगिता और भी बढ़ गई है।

मैं श्रीमती सरोज को उनके प्रयास के लिए साधुवाद देता हूँ।

लक्ष्मी निवास,
बी०४ए/४ राणा प्रताप बाग,
दिल्ली ६.
१५-१२-५६

भारतभूषण 'सरोज'

प्रथम संस्करण की भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक की लेखिका श्रीमती सरोज एम० ए०, साहित्यरत्न; मेरी छात्रा रही हैं। अध्ययन करते समय उन्होंने जिस अध्यवसाय का परिचय दिया था उससे मुझे विश्वास हो गया था कि वे अपनी प्रतिभा से अपने उज्ज्वल भविष्य का निर्माण सफलतापूर्वक करेंगी। मेरी प्रकाशित अनेक पुस्तकों में उन्होंने सहायक लेखिका के रूप में कार्य कर मुझे महत्त्वपूर्ण सहायता प्रदान की थी। यह पुस्तक उन्होंने स्वतन्त्र रूप से लिखी है।

'भाषा-विज्ञान' पर प्रश्नोत्तर रूप में लिखित मेरी पुस्तक को छात्र-वर्ग ने बहुत अपनाया है। मुझे आशा है कि यह पुस्तक उससे भी अधिक पसन्द की जायेगी। उसमें जो अनेक प्रश्न छूट गए थे उनका भी समावेश श्रीमती सरोज ने इस पुस्तक में कर दिया है।

बी० ४ ए/४ राणा प्रताप बाग,
दिल्ली-६.
दीपावली सं० २०१४

भारतभूषण 'सरोज'

प्रश्न-सूची



प्रश्न १—भाषा विज्ञान किसे कहते हैं ? भाषा-विज्ञान और व्याकरण में क्या अन्तर है ?

भाषा-विज्ञान भाषा की उत्पत्ति, उसकी बनावट, उसके विकास तथा ह्रास की वैज्ञानिक व्याख्या करता है। विज्ञान का कार्य किसी वस्तु का परीक्षण करना, उसके कारणों का पता लगाना, तुलनादि के द्वारा नियम निर्धारित करना है। इसी प्रकार भाषा-विज्ञान भी किसी भाषा विशेष की उत्पत्ति, बनावट, उसके वर्तमान तथा पूर्व रूपों की खोज करता है। उसके मूल रूपों का परीक्षण करता है। उसकी गठन, प्रकृति, और विकास की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करता है। वह देखता है कि किसी भाषा के वर्तमान स्तर तक पहुँचने में उसके कितने प्रकार के स्वरूप हुए और वे रूप कैसे और क्यों कर बने। इस प्रकार भाषा-विज्ञान ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन करता है। भाषा की सम्यक् व्याख्या प्रस्तुत करता है। आधुनिक परिभाषा के अनुसार भाषा-विज्ञान का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक और विशद है। भाषा-विज्ञान का कार्य किसी निश्चित् सीमा, देश, काल अथवा जाति में सीमित नहीं किया जा सकता। उसके अन्तर्गत संसार की समस्त बोलियाँ, भाषाएँ और विभाषाएँ आ सकती हैं। यह भाषाओं के शुद्ध और अशुद्ध, साहित्यिक और असाहित्यिक तथा जीवित और मृत सभी रूपों की पर्यालोचना करता है। भाषा-विज्ञान भाषा के व्याकरण अर्थात् शब्द, क्रिया, संज्ञा, विशेषण आदि के रूपों और नियमों पर भी विचार करता है। वह देखता है कि "मैं लिखा" न लिखकर "मैने लिखा" क्यों होना चाहिये। साथ ही "मैंने" और "लिखा" आदि किस प्रकार संस्कृत से प्राकृत अपभ्रंश और फिर हिन्दी में आए। भापा-विज्ञान यह भी देखता है कि शब्दों के बोल-चाल तथा साहित्यिक स्वरूप में क्या अन्तर है। भाषा के स्वरूप में कभी वृद्धि हो जाती है और कभी ह्रास होता है। कभी उसके संयुक्त रूप के भिन्न-भिन्न अवयव हो जाते हैं। कभी-कभी

उसमें नये शब्द और ध्वनियाँ भी देश, काल और वातावरण के प्रभाव से आ जाती हैं और शब्द की बनावट में परिवर्तन आ जाता है। इन समस्त परिवर्तनों की विवेचना भाषा-विज्ञान ही करता है। जैसे कि पहले कहा जा चुका है भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध संसार की समस्त भाषाओं के साथ है। उसे किसी एक भाषा को जानने के लिये उससे सम्बन्धित सभी अन्य भाषाओं को देखना पड़ता है। उदाहरणार्थ हिन्दी भाषा को जाँचने के लिये उसकी बोली और साहित्यिक रूप देखने के पश्चात् उसकी पूर्ववर्ती भाषाएँ क्रमशः शौरसेनी, अपभ्रंश, पाली, संस्कृत, प्राकृत और वैदिक-संस्कृत आदि सबका अध्ययन करना होगा। हिन्दी पर बाद में अरबी, फारसी और अंग्रेजी के प्रभाव पड़े। साथ-ही-साथ राजस्थानी, पंजाबी, गुजराती, मराठी, बंगाली आदि भाषाओं का भी ज्ञान अपेक्षित है। तात्पर्य यह कि भाषा-विज्ञान का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक और सम्बन्ध सभी भाषाओं से है।

व्याकरण भाषा की शुद्धि और अशुद्धि पर ध्यान देता है। व्याकरण भाषा के शुद्ध रूपों का वर्णन करता है। व्याकरण भाषा के वर्तमान रूप से सम्बन्ध रखता है। उसकी साधुता और असाधुता पर विचार करता है। एक प्रकार से व्याकरण भाषा-विज्ञान का अनुगामी है। व्याकरण भाषा के नियमों और उपनियमों का वर्णन करता है पर भाषा-विज्ञान उनके कारणों की खोज करता है। व्याकरण केवल यह बताता है कि अमुक रूप ऐसा है, पर वह कैसे हुआ। इसके होने के पूर्व उसे किन-किन श्रेणियों से होकर निकलना पड़ा, इन पूर्व रूपों के परिवर्तनों में किन-किन आन्तरिक तथा बाह्य उपकरणों ने सहायता पहुँचाई, आदि बातें भाषा-विज्ञान ही बताता है। भाषा का वर्तमान रूप क्या है ? यह व्याकरण बतलाता है। उसका भाव क्या है ? यह साहित्यिक सिखाता है। परन्तु भाषा विज्ञान कुछ आगे बढ़कर भाव के साधन की मीमांसा करता है। भाषा विज्ञान का सम्बन्ध भाषा के अत्यन्त जीवित रूप से है। भाषा-विज्ञान प्रगतिवादी है। वह नवजात रूपों को सहर्ष ग्रहण करता है। परन्तु व्याकरण प्रगतिवादी नहीं होता। वह पुरातनवादी है। शब्द के रूपों को वह स्थायी और

जड़-रूप बना देना चाहता है। नये रूपों को वह असाधु मानता है। भाषा के विकास को वह स्वीकार नहीं करता। यदि भाषा में ध्वनि या उच्चारण सम्बन्धी कोई परिवर्तन आ जाये, तो व्याकरण उसे स्वीकार नहीं करता। इससे स्पष्ट है कि भाषा-विज्ञान प्रगतिवादी और विकासवादी है तथा व्याकरण प्राचीनतावादी है।

व्याकरण तो भाषा में प्राप्त सिद्ध और निष्पन्न रूपों का संग्रह करता है। उसमें नियम आदि की रचना करता है। उसका अपना नियन्त्रण इस प्रकार का हो जाता है कि तर्क और प्रमाण भी उसका लोहा नहीं ले सकता। जिस प्रकार 'आत्मा' शब्द संस्कृत का पुलिङ्ग है। पर हिन्दी में आकर उसे स्त्रीलिङ्ग हो जाना पड़ा। उसके स्वरूप के निष्पन्न हो जाने पर विचार, विवाद या तर्क का कोई प्रश्न पैदा नहीं हो सकता। पर भाषा-विज्ञान इसको सुनकर चुप नहीं रह जाता। उसका क्षेत्र इतना व्यापक, गंभीर और अथाह है कि उसमें सब प्रकार के संशोधन, प्रमाण, तर्क और विवादों के लिए स्थान है। व्याकरण सदैव प्राचीन, परम्परागत रूपों को साधु और शिष्ट मानता है। उसे भाषा के नव-निर्मित रूप खटकते हैं। जब संस्कृत ने साहित्यिक रूप धारण कर लिया तो स्वभावतया ही जन-साधारण के लिये नये शब्द समूह भाषा के क्षेत्र में आये। जैसे संस्कृत धर्म का 'धम्म,' कर्म का 'कम्म आदि। इस परिवर्तन को देखकर वैयाकरण इसे भाषा पर बलात्कार समझने लगे और नवीन भाषा को प्राकृत या गँवारू बोली नाम दिया। इसी प्रकार प्राकृत से अपभ्रंश तक आते-आते भाषा की दुर्दशा हुई। जहाँ भाषा-वैज्ञानिकों ने इस परिवर्तन को विकास और प्रगति का नाम दिया, वहाँ वैयाकरणों ने इसे अवनति या विकृति कहा। भाषा-विज्ञान तो व्याकरण का भी व्याकरण है, उसका अग्रणी है।

'सबसे प्रधान भेद व्याकरण और भाषा-विज्ञान में यह है कि ठीक-ठीक अर्थों में व्याकरण एक कला है, विज्ञान नहीं। परन्तु भाषा-विज्ञान, जैसा कि नाम से ही प्रतीत होता है, विज्ञान है। ठीक है कि व्याकरण और भाषा-विज्ञान दोनों का सम्बन्ध भाषा से है। परन्तु भाषा को देखने और

परखने की दृष्टि दोनों की भिन्न-भिन्न है। व्याकरण का उद्देश्य केवल किसी विशेष भाषा के व्यवहारिक उपयोग को दृष्टि में रखकर व्यवहारोपयोगी अच्छाई या बुराई का सामान्य ज्ञान होता है। किसी भाषा के व्याकरण को जानने के लिये दूसरी भाषाओं के व्याकरण-ज्ञान की कोई विशेष आवश्यकता नहीं। परन्तु भाषा-विज्ञान की दृष्टि किसी विशेष भाषा के सामान्य ज्ञान तक ही सीमित न रहकर भिन्न-भिन्न कालों और देशों की भाषाओं तक विस्तृत हो जाती है। क्योंकि भाषा विज्ञान के नियम और सिद्धान्त स्थिर करने के लिये अनेक भाषाओं का ज्ञान होना आवश्यक है।

व्याकरण भाषा के सिद्ध स्वरूप को बताता है परन्तु भाषा-विज्ञान उन सिद्ध और निष्पन्न स्वरूपों के कारण और इतिहास की खोज करता है। महाभाष्य में लिखा है कि पाणिनि आचार्य ने शब्द, अर्थ और इनके सम्बन्ध को स्वतः सिद्ध मानकर अपने शास्त्र की रचना की है। 'गो' की एषणा" इस अर्थ को रखने वाले 'गवेषणा' शब्द को अनुसन्धान के अर्थ में क्यों प्रयुक्त किया गया ? वैयाकरण इसका उत्तर नहीं दे सकता। 'करिन् से 'करिणी' तो हो गया, पर 'हरि' से 'हरिणी' कैसे बना। व्याकरण इसका उत्तर क्या देगा ? वह तो सिद्ध स्वरूप को प्रमाण मानकर आगे चल पड़ा। पर भाषा विज्ञान की यही चेष्टा रहती है कि शब्दों के वर्तमान या सिद्ध रूपों के कारणों की खोज करके इतिहास से उनके मिलते-जुलते रूपों को निकालकर प्रमाण दे। अतः भाषा-विज्ञान का मूल उद्देश्य 'क्यों' और 'कैसे' की जिज्ञासा को शान्त करना है और व्याकरण केवल 'क्या है' के प्रश्न का उत्तर देता है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि व्याकरण एक काल की किसी एक भाषा से सम्बन्ध रखता है परन्तु भाषा विज्ञान सब देशों और सब कालों की भाषाओं से सम्बन्ध रखता है। व्याकरण नियम और उपनियम प्रस्तुत करता है परन्तु भाषा-विज्ञान उन पर तर्क कर, उनका परीक्षण कर, एक-एक शब्द का इतिहास प्रस्तुत कर अपना उचित कार्य करता है। इससे स्पष्ट है कि भाषा विज्ञान व्याकरण का विकसित और विशाल रूप है,

व्याकरण का भी व्याकरण है। भाषा-विज्ञान व्याकरण का सहायक और सहयोगी है। व्याकरण उसका आधार ग्रहण कर सकता है, उसकी नींव पर एक बड़ी भाषा का निर्माण कर सकता है। दोनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है, एक आधार है, दूसरा आधेय है। दोनों में परस्पर अङ्गांगि भाव है, चोली दामन का साथ है। यद्यपि एक का क्षेत्र व्यापक है और दूसरे का संकीर्ण। एक वर्णन करता है, दूसरा व्याख्या करता है तथापि दोनों का पार्थक्य असम्भव है।

प्रश्न २—भाषा-विज्ञान की उपयोगिता बताते हुए उसका अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध स्पष्ट कीजिये।

आज का युग वैज्ञानिक है। यह हर एक बात को तर्क की तुला पर तोलता है। आज जब तक कारण और कार्य का सम्बन्ध स्थापित न किया जाये, तब तक कोई वस्तु बुद्धिग्राह्य नहीं होती। अतः विज्ञान हमारी जिज्ञासा को तृप्त करता है। भाषा का सबसे अधिक निकट सम्बन्ध व्याकरण से है। प्रतिदिन भिन्न-भिन्न प्रकार के शब्द सुनने तथा प्रयोग में आते हैं। जिज्ञासु के हृदय में उन शब्दों की व्युत्पत्ति के विषय में कौतूहल उत्पन्न होता है। भाषा-विज्ञान इन सब जिज्ञासाओं की शांति करता है और सतर्क उत्तर देता है। भाषा-विषयक अनेक समस्याएँ प्रतिदिन खड़ी होती हैं। पारिभाषिक शब्दों के लिये आज बड़ा विवाद पैदा हुआ है। लिपि का प्रश्न भी अभी तक वहीं बना हुआ है। इस प्रकार की अनेक समस्याओं का समाधान भाषा-विज्ञान के द्वारा ही होगा। ऐतिहासिक खोजों में भाषा-विज्ञान ही सहायक होता है।

भाषा-विज्ञान, विज्ञान होने के कारण नीरस भी हो सकता है, किन्तु यह तो शब्दों की राम कहानी है, भाषा की आत्मकथा है, अतः वह आनन्द भी देने वाला विषय है। जिस प्रकार शब्दों के भिन्न-भिन्न रूपों और अर्थों पर यह शास्त्र विचार करता है, उसी प्रकार भाषा उद्भव और विकास तथा ह्रास का भी रहस्य उद्घाटित करता है।

भाषा-विज्ञान ज्ञान-पिपासा की शांति के साथ-ही-साथ भाषा-विज्ञान के विद्यार्थी को वैज्ञानिक क्रिया में दीक्षित करता है। इससे उसकी दृष्टि विशाल और विस्तृत बनती है। वह अपनी भाषा या उपभाषा के घेरे में बँधा नहीं रहता।

भाषा-विज्ञान से व्याकरण और साहित्य के अध्ययन में बड़ी सहायता मिलती है। इसके द्वारा प्राचीन भाषाओं का व्याकरण बड़ी आसानी से तैयार किया जा सकता है। मैकडानल कृत वैदिक-व्याकरण इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

भाषा-विज्ञान ने तुलनात्मक विज्ञान को जन्म दिया। इसके द्वारा प्राचीन भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन में पौराणिक गाथाओं के स्वभाव, उदभव और विकास का, भिन्न-भिन्न मानव-जातियों के विश्वासों और मतों के इतिहास का बहुत कुछ पता चलता है।

भाषा-विज्ञान शब्दों के द्वारा मनुष्य समाज के प्राचीनतम इतिहास की खोज करता है। भाषा-विज्ञान ने जातीय-मनोविज्ञान, जाति-विज्ञान, मानव-विज्ञान आदि में कई नई-नई शोध की हैं। भारोपीय भाषा परिवार की संस्कृत, ग्रीक, गाथिक आदि भाषाओं के वैज्ञानिक अध्ययन द्वारा भारोपीय जातियों के पूर्वजों की सभ्यता और संस्कृति की खोज की। आर्यों के निवास स्थान की खोज करने में भी भाषा-विज्ञान ने सबसे अधिक सहायता की है। शब्दों के इतिहास से विचारों का इतिहास और उसके द्वारा किसी जाति की सभ्यता का इतिहास निष्पन्न होता है। इस प्रकार भाषा-विज्ञान प्राचीन मनुष्यों की मानसिक प्रवृत्तियों और जातियों आदि का विचार करने में बड़ी सहायता करता है।

भाषा-विज्ञान का उपयोग—भाषाओं के परस्पर सम्बन्ध रखने वाली भाषाओं के सीखने से होता है। इसके द्वारा अन्य भाषाओं का सीखना भी सरल हो जाता है। भाषा-विज्ञान के अध्ययन से भाषा का स्वरूप और परवर्त्ती भाषाओं का ज्ञान सुगमता से हो जाता है। भाषा से बँधी

जो जटिल समस्याएँ किसी देश और काल में उपस्थित होती हैं, उनका सुलझाव जिस खूबी से भाषा-विज्ञान-विद् करता है उतना अन्य नहीं।

भापा-विज्ञान का सभी शास्त्रों से सम्बन्ध है।

भाषा-विज्ञान और मनोविज्ञान—भाषा-विज्ञान और मनोविज्ञान का अति निकट का सम्बन्ध है। भापा मनुष्य की इच्छा शक्ति का फल है। किसी भी देश में पाई जाने वाली मानवी भाषा इस विज्ञान का विपय है। भाषा-विज्ञान का कार्य किसी जाति विशेष, देश विशेष या काल विशेष की भाषा के लिये परिमित नहीं है। असभ्य से असभ्य जातियों की ऐसी बोलियाँ, जिनको कोई जानता नहीं तथा सभ्य जातियों की साहित्य सम्पन्न भाषाएँ—दोनों पर विचार करना यहाँ आवश्यक है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि में कोई भी भाषा, जिसके द्वारा मनुप्य अपने विचार प्रकट करता है, एक मूल वस्तु है। परन्तु भाषा-विज्ञान-सम्बन्धी-सिद्धांतों या नियमों का पता लगाने के लिये वे बोलियाँ; जिनका साहित्य से कोई सम्पर्क नहीं हुआ है, भाषा-विज्ञान की दृष्टि से अधिक मूल्य रखती हैं। एक शब्द के बन जाने के वाद भी उसमें अपनी रुचि के अनुसार परिवर्तन तथा परिवर्द्धन होता रहा है। उच्चारण में मुखसुख, प्रयत्नलाघव आदि के आधार पर ध्वनि परिवर्तन और अर्थ परिवर्तन होता है। ये सब मनोविज्ञान से ही सम्बन्ध रखते हैं। शब्दों और प्रयोगों की बनावट, विकास और ह्रास में मनोविज्ञान बहुत सहायक है।

हम देखते हैं कि कोई-कोई मनुष्य बोली के सभी अवयवों के सही रहते हुए भी तुतलाते हैं, रुक-रुककर बोलते हैं, इस दोष का हेतु मनोविज्ञान बता सकता है। इस तरह भाषा में जो परिवर्तन एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक आते-आते हो जाते हैं, उनका कारण मनोविज्ञान से ही मालूम हो सकता है। इस प्रकार भाषा-विज्ञान मनोविज्ञान का ऋणी है। परन्तु वदले में मनोविज्ञान भी भाषा-विज्ञान का ऋणी है। उसे भी विचारों के विश्लेषण, अनुभव की सम्पूर्णता, अपूर्णता आदि के अध्ययन में भाषा-विज्ञान का सहारा लेना पड़ता है।

भाषा-विज्ञान और समाज शास्त्र—भाषा विज्ञान का समाज-शास्त्र से भी गहरा सम्बन्ध है। भाषा विचार-विनिमय का साधन है। मनुष्य भावों का आदान-प्रदान भाषा के द्वारा ही कर सकता है। यह भावों का आदान-प्रदान समाज में ही होता है। भाषा एक व्यक्ति की बनाई हुई निजी सम्पत्ति नहीं। जिन सांकेतिक ध्वनियों को समाज ने स्वीकार किया है वे ही भाषा बन गई हैं। समाज शास्त्र के अध्ययन से भाषा-विज्ञान के विद्यार्थी को उन सब अवस्थाओं का पता चलता है जिनमें भाषा का विकास होता है। सामाजिक प्रभाव के शब्दों का अर्थ निश्चित होता है। गुरु का अर्थ बड़ा होता है। भारत में गुरु अध्यापक को कहते हैं। ईरान में 'देव' शब्द अशुभ माना जाता है पर भारत में इसे शुभ अर्थ में लिया जाता है। वैदिक सूक्तों में 'असुर' कहीं देवता वाचक और कहीं राक्षस वाचक है। संस्कृत में 'यक्ष' शब्द अच्छे अर्थ और पाली में बुरे अर्थ में प्रयुक्त होता है। अशोक ने 'देवानां प्रिय' इस वचन का अपने लिये सर्वत्र प्रयोग किया है परंतु बाद के संस्कृत ग्रंथों में इसका अर्थ मूर्ख बताया गया है। इन सब परिवर्तनों का कारण और खोज भाषा-विज्ञान ही करता है। तात्पर्य यह है कि देश और काल के अनुसार समाज की मनोवृत्तियाँ और भाषा में जो परिवर्तन आता है उन सबकी खोज भाषा-विज्ञान ही करता है। अतः भाषा-विज्ञान के विद्यार्थी को समाज शास्त्र और समाज शास्त्र के विद्यार्थी को भाषा-विज्ञान का अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है।

भाषा-विज्ञान और व्याकरण—भाषा-विज्ञान और व्याकरण का घनिष्ठ सम्बन्ध है। व्याकरण एक कला है भाषा-विज्ञान एक विज्ञान है। व्याकरण भाषा की साधुता असाधुता पर विचार करता है परन्तु भाषा-विज्ञान भाषा की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करता है। भाषा-विज्ञान भाषा के मूल रूपों उसके कारणों की खोज करता है। व्याकरण प्रचलित रूपों को ही साधु मान कर चलता है। भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध भाषा के अधिक-से-अधिक जीवित रूप से होता है पर व्याकरण इतना प्रगतिवादी नहीं होता। वह नवजात रूपों को असाधु मानता है। उसे प्राचीन

सिद्ध रूप ही अच्छे लगते हैं। व्याकरण के दो प्रकार होते हैं—वर्णनात्मक और व्याख्यात्मक। वर्णनात्मक व्याकरण लक्ष्यों का व्यवस्थित रूप में वर्गीकरण करता है और सामान्य नियमों का निर्माण करता है। व्याख्यात्मक व्याकरण इसका भाष्य करता है और भाषामात्र की प्रवृत्तियों की व्याख्या करता है। व्याख्यात्मक व्याकरण के तीन रूप होते हैं। **ऐतिहासिक व्याकरण** के आधार पर भाषा के कारणों को उसी भापा में या उसकी पूर्ववर्ती भाषा में खोजने का प्रयत्न करता है। **तुलनात्मक व्याकरण** भाषा के कार्यों की व्याख्या करने के लिये उस भाषा की समकालीन या उसकी पूर्वज सजातीय भापाओं की तुलनात्मक परीक्षा करता है। **सामान्य व्याकरण** भाषा के मौलिक-सिद्धान्तों और तत्वों की मीमांसा करता है। भापा-विज्ञान ने वर्णनात्मक व्याकरण को अपने अन्तर्गत कर लिया है, क्योंकि इसका एक मात्र आधार यही है। व्याकरण नियम, उपनियम, तथा अपवाद का सविस्तार विवेचन करता है और भाषा-विज्ञान प्रत्येक शब्द का इतिहास प्रस्तुत करता है। व्याकरण-भाषा-विज्ञान का सहायक है। व्याकरण निष्पन्न रूपों को अपनाता है। भाषा-विज्ञान जैसे रूप मिलते हैं उन्हीं पर विचार करता है। प्राचीन रूप वर्तमान रूप को कैसे प्राप्त हुआ, इसके कारणों पर भाषा-विज्ञान विचार करता है। भाषा-विज्ञान व्याकरण का भी व्याकरण है या उसका भी विकसित रूप है। इन दोनों में परस्पर अंगांगी भाव है। एक व्याख्या प्रधान है तो दूसरा वर्णन प्रधान। व्याकरण "क्या" का उत्तर देता है और भाबा-विज्ञान 'क्यों' और 'कैसे' का उत्तर देता है।

भाषा-विज्ञान और साहित्य—भाषा-विज्ञान और साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। भाषा-विज्ञान के अधिकांश नियमों और सिद्धान्तों की रचना साहित्य के सहारे ही होती है। क्योंकि भाषा और रूप परिवर्तन का ज्ञान कराने वाली समस्त सामग्री साहित्य में ही रक्षित रहती है। यदि साहित्य इन सब बातों को रक्षित न रखे तो भाषा-विज्ञान का कार्य कठिन हो जाये। साहित्य के आधार पर ही भापा-विज्ञान के ऐतिहासिक और

तुलनात्मक अध्ययन में सहायता मिलती है। हिन्दी भाषा की मूल प्रकृति को जानने के लिये भाषा-विज्ञान अपभ्रंश, प्राकृत संस्कृत तथा वैदिक साहित्य को देखता है। यदि हमारे पास हमारे ही देश का क्रमबद्ध साहित्य न होगा तो भाषा विज्ञान का कोई कार्य सम्पन्न नहीं होगा। भिन्न शब्दों और उनके रूपों में क्या और कैसे परिवर्तन हुआ, इसका ज्ञान केवल साहित्य से ही हो सकता है। आज भाषा-विज्ञान का कार्य इतना समृद्ध और सम्पन्न हो चुका है। शब्दार्थ परिवर्तन, ध्वनि परिवर्तन आदि के कारणों की खोज इसी वाङ्मय के आधार पर ही हो रही है।

भाषा-विज्ञान और इतिहास—भाषा-विज्ञान और इतिहास का भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह इतिहास चाहे राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक आधार पर आधृत हो। भारतीय भाषा में अरबी-फारसी, तुर्की और अंग्रेजी भाषा का आना हमारी पिछली आठ-नौ सौ साल की परतन्त्रता का ही फल है। पंजाब और संयुक्त प्रांत में उर्दू और हिन्दी की समस्या राजनीतिक विषमता की ही उपज है। भाषा का ऐतिहासिक या तुलनात्मक अध्ययन इतिहास के उन अंशों पर प्रकाश डालता है जो आवरण से आवृत है। भाषा-विज्ञान की सहायता से ही प्रागैतिहासिक काल के विषय में भी कुछ-न-कुछ पता चल जाता है। उदाहरणार्थ प्राचीनतम आर्यों के विषय में प्राचीन आर्य भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से बड़ी रोचक सामग्री प्राप्त होती है—जैसे ये परिवार बनाकर रहते थे। उनके परिवार में मां-बाप, लड़की, भाई-बहिन आदि होते थे। स्त्री विवाह के अनन्तर पति के परिवार में शामिल हो जाती थी। पशु पालन इनका मुख्य व्यवसाय था, आदि।

आर्यों का मूल निवासस्थान भी इसी आधार पर प्राप्त किया जा सकता है? ऐतिहासिक परिवर्तन के कारण ही एक राज्य दूसरे राज्य पर अधिकार करता है। विजित देश की भाषा विजयी देश पर अपना आधिपत्य स्थापित करती है। फारसी पर अरबी का प्रभाव है। दिल्ली की बोली में जितने परिवर्तन हुए हैं सबका कारण ऐतिहासिक ही है।

अपभ्रंश को देशव्यापी बनाने के प्रधान कारण अमीरों का प्रभुत्व था। शकों और हूणों तथा मुसलमानों और यूरोपियनों के आगमन एवं संसर्ग का प्रभाव यहाँ की भाषा एवं व्याकरण पर स्पष्ट दिखाई देता है।

भाषा-विज्ञान और तर्कशास्त्र—भाषा-विज्ञान के अध्ययन में यद्यपि तर्कशास्त्र से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं तो भी परोक्ष रूप से वह उसका सहायक अवश्य है। शब्दों का अर्थ विशेष से सामान्य तक कैसे पहुँचता है, सामान्य अर्थ बोधक शब्द किसी व्यक्ति का द्योतक किस तरह हो सकता है इसके अध्ययन में तर्क शास्त्र से पर्याप्त सीमा तक सहायता मिलती है। पर साधारण रीति से भाषा तर्क के अनुसार नहीं चलती।

भाषा-विज्ञान और मानव विज्ञान—भूत-विज्ञान तथा शरीर-विज्ञान मानव-विज्ञान भाषा-विज्ञान का आधार है। मनुष्य ने अपनी प्राकृतिक या आरम्भिक अवस्था में कितनी उन्नति की है? वह किस वर्तमान सभ्य अवस्था तक पहुँचा है। इसका अध्ययन भाषा विज्ञान के द्वारा ही होता है। मनुष्य के स्वभाव के दो अंग होते हैं—पहला स्वाभाविक और दूसरा संस्कार-जन्य। इच्छा, राग, द्वेष तथा सामर्थ्य आदि मनुष्य के स्वाभाविक अंग हैं। ज्ञान-विज्ञान सामाजिक रीति-नीति के कारण मनुष्य में जो बातें आती हैं वे उसके संस्कार-जन्य स्वभाव के अंग हैं। मानव-शास्त्र हमें यह बतलाता है कि आरम्भिक काल में मानव जाति का विकास कब तक और किस-किस प्रकार हुआ। उसकी पहले अवस्था क्या थी। भाषा-विज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध मानव-विज्ञान के उस अंश से है जिसमें उसकी बातचीत रहन-सहन और रीति नीति का विवेचन होता है। यदि हमें यह न पता हो, कि मानव समाज में लेखन-कला का आरम्भ और विकास कब और कैसे हुआ, तो हमारा भाषा-विज्ञान, अधूरा ही रह जायेगा। ध्वनि किस प्रकार मुँह से निकल कर दूसरे आदमी के कान में पहुँचती है यह बात हमें भूत-विज्ञान बतलाता है। शब्द आकाश में लहरें मारता है या वायु में, भाषा की ध्वनियों में और अन्य ध्वनियों में क्या अन्तर है यह हमें भाषा-विज्ञान बतलाता है।

भाषा-विज्ञान और शरीर-विज्ञान—भाषा विज्ञान और शरीर विज्ञान का भी परस्पर सम्बन्ध है। क्योंकि भाषा मनुष्य के शरीर से निकलती है। ज्ञानतन्तु मस्तिष्क से मुख, नासिका, जिह्वा, तालु आदि अवयवों को प्रेरित करते हैं। तात्पर्य यह कि ध्वनि के अध्ययन से भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध सम्पूर्ण शरीर-विज्ञान से है। भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध पुरातत्व, प्रकृति-विज्ञान तथा भूगोल के साथ भी है। विभिन्न देशों की भूगोलिक स्थिति पर भाषा की स्थिरता और गतिशीलता आवृत है। ध्वनियें अनेक बार भूगोलिक स्थिति में परिवर्तित होती हैं और कई बार नहीं होतीं। जलवायु का भाषा पर बहुत प्रभाव पड़ता है। किसी देश के लोग 'ट' नहीं बोल पाते और किसी के 'त' नहीं बोल सकते। इसी प्रकार भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध लिपि-विज्ञान-शान्वय-शास्त्र आदि से भी है। इसका काम इन सब में से किसी के बिना नहीं चलता।

प्रश्न ३—भारतवर्ष में भाषा-विज्ञान सम्बन्धी कार्य का विवरण प्रस्तुत कीजिए।

भारतवर्ष में भाषा विज्ञान की परम्परा अविच्छिन्न गति से चली आ रही है। अन्य देश के प्राचीन लोगों की भाँति भारतवर्ष के आदि निवासियों में भी धार्मिक भावना प्रस्फुटित होकर विकास पाती रही है। इसी धार्मिक भावना के प्रस्फुटन से भाषा-विज्ञान के अध्ययन और विवेचन को बहुत प्रोत्साहन मिला है। वैदिक द्विजों ने संहिताओं को कंठस्थ करके रखा। परन्तु काल-भेद और देश-भेद के कारण कंठस्थ मंत्रों के उच्चारण में भेद पड़ जाना स्वाभाविक था। इन परिस्थितियों में मूल की रक्षा करने के उपाय सोचे गए। इन उपायों में संहिताओं का पदपाठ सर्वप्रमुख सफल प्रयास है। पदपाठ के द्वारा मंत्रो का विभाजन पदों में करना सम्भव हो गया। पदपाठ की युक्ति शाकल्य ऋषि की रची समझी जाती है। ब्राह्मण काल में कितने ही द्विजों ने सांसारिक आकर्षण से अभिमुख होकर अपनी सारी शक्ति को वैदिक वाङ्मय के अध्ययन में लगा दिया। जिसका फल यह निकला कि ˆदिक भाषा की पूर्णरूप से

रक्षा हो सकी। कृष्ण यजुर्वेद संहिता में देवों ने देवराज से कहा है कि हम लोगों के कथन को टुकड़ों में कर दीजिए। इससे स्पष्ट होता है कि वे इतना जानते थे कि शब्द और वाक्यों के टुकड़े होते हैं। इन संकेतों से उनके भाषा-सम्बन्धी ज्ञान का पता चलता है। परन्तु व्यवहार रूप में सर्वप्रथम कार्य ब्राह्मण ग्रंथों में मिलता है।

ब्राह्मण ग्रंथों में जहाँ-तहाँ ध्वनि और व्याकरण के उदाहरण मिलते हैं, जिनसे पता चलता है कि ई० पू० आठवीं-नवीं सदी में ही भारतीयों ने भाषा के शास्त्रीय अध्ययन में आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त कर ली थी। इस काल के विविध शिक्षा-ग्रन्थों से वर्ण-स्वर-मात्रा उच्चारण आदि के नियमों का विशद विवरण मिलता है। कुछ समय बाद ही प्रातिशाख्य रचे गये। आज के प्रातिशाख्य इन्हीं प्रातिशाख्यों पर आश्रित हैं। मूल प्रातिशाख्यों में नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात आदि का विश्लेषण मिलता है। इस काम को करने वाले यास्क मुनि के पहले हुए माने जाते हैं और पाणिनि के बाद के माने जाते हैं। इन प्रातिशाख्यों का मूल उद्देश्य अपनी-अपनी संहिताओं का परम्परागत उच्चारण सुरक्षित रखना था। अतः स्वराघात, मात्राकाल तथा उच्चारण सम्बन्धी अन्य नियमों के अध्ययन का कार्य इनमें हुआ। इन्हीं में संस्कृत ध्वनियों का प्रौढ़ तथा प्राञ्जल वर्गीकरण किया गया।

प्रातिशाख्यों के पश्चात् निघण्टु की रचना हुई। निरुक्त निघण्टु की व्याख्या है। निरुक्तकार यास्क ने निघण्टु के प्रत्येक शब्द को लेकर व्युत्पत्ति तथा अर्थ पर विचार किया। उसके सामने वेद के शब्दों की सूची विराजमान थी। निरुक्तकार ने निघण्टु के शब्दों को लेकर वैदिक संहिताओं के उद्धरण देते हुए शब्दों का अर्थ स्थापित करने का प्रयत्न किया। अर्थ-विज्ञान के विषय का संसार में सबसे पहला प्रयास यही है। यास्क मुनि के समय तक भाषा-विज्ञान का कार्य पर्याप्त मात्रा में हो चुका था। जिसका, प्रमाण इस रूप में प्राप्त होता है कि यास्क ने शाकटायन, शाकल्य आदि पूर्ववर्ती या समकालीन आचार्यों का उल्लेख अपनी

पुस्तक में किया है। तथा उनके मतों को भी उद्‌धृत किया है। शब्दों के इतिहास पर भी दृष्टिगत किया है। शब्दों पर विचार करने के साथ ही साथ भाषा की उत्पत्ति, गठन और विकास पर भी प्रकाश डाला है। अतः कहा जा सकता है कि भाषा पर पूर्ण रूप से विचार करने का श्रेय इसी लेखक को है।

यास्क के पश्चात् और पाणिनि से पूर्व कई आचार्य हुए, जिनके नाम प्राप्य नहीं हैं। पाणिनि ने प्रथमा, द्वितीया आदि विभक्तियों के नामों का तथा बहुव्रीहि, कृत, तथा तद्धित् आदि संज्ञाओं का प्रयोग बिना इनका अर्थ बताते हुए किया। इससे स्पष्ट है कि पाणिनि के समय तक सभी संज्ञाओं आदि से परिचित हो चुके थे। अनेक वैयाकरण पद-विज्ञान को आगे बढ़ा चुके थे। पाणिनि के पूर्व के वैयाकरणों में काशकृत्स्न और आपिशाली इन्द्र का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने भाषा की इतनी विशद् और स्पष्ट विवेचना की है, कि पाणिनि के आरम्भ में ही उच्चकोटि के व्याकरण की रचना कर दी। पाणिनि की रचना का नाम अष्टाध्यायी है। इसके हरएक अध्याय के चार पद हैं। कुल सूत्रों की संख्या लगभग चार हजार है। इन चार हजार सूत्रों में भाषा को इस प्रकार जकड़ा गया है कि उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन करना असम्भव है। अष्टाध्यायी के अतिरिक्त उसके सहायक ग्रन्थ गणपाठ, धातुपाठ तथा उणादि-सूत्र हैं, जिनका अधिकांश भाग पाणिनि द्वारा रचित है। पाणिनि की छाप भाषा-विज्ञान पर अमिट है। पाणिनि के पश्चात् भाषा-विज्ञान का कार्य माहेश्वर सूत्रों में प्राप्त होता है। इनमें ध्वनियों का वर्गीकरण स्थान और प्रयत्न के आधार पर किया गया है। प्रत्येक शब्द किसी-न-किसी धातु से सम्बद्ध है। सबसे अधिक महत्वपूर्ण काम वैदिक और लौकिक संस्कृत का तुलनात्मक विवेचन है। यूरोप में जो काम ईस्वी १९वीं सदी में [illegible] आचार्यों के द्वारा ईसा पूर्व छठी-सातवीं सदी में हो चुका था।

पाणिनि के पश्चात्काल में पतंजलि, जिनेन्द्रबुद्धि, भर्तृहरि, कात्यायन आदि के नाम लिये जा सकते हैं। जिस मध्यकाल में पाश्चात्य-विज्ञान

अत्यन्त अन्धकार में था उस समय में भी भारत में वाक्यपदीय, व्याकरण-भूषण तथा शब्द शक्ति-प्रकाशिका जैसे भाषा-विज्ञान के ग्रन्थ रचे जा चुके थे। पाणिनि के पश्चात् जितने भी भाषाविज्ञानिक हुए वे प्रायः अष्टाध्यायी की आलोचना, प्रत्यालोचना, और टीकाटिप्पणी आदि में ही रत रहे। कोई भी ऐसा लेखक नहीं हुआ, जिसने स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने का प्रयास किया हो। पाणिनि के बाद के विद्वानों में वार्तिककार कात्यायन का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कथासरित्सागर में इन्हें पाणिनि का सम-कालीन कहा गया है। इन्होंने पाणिनि के ढंग से ही सूत्रों की व्याख्या की। इनके सूत्रों को वार्तिक कहते हैं। चार हजार सूत्रों में से इन्होंने एक हजार पाँच सौ सूत्रों को ही लिया है। उनमें दोष दिखाकर शुद्ध नियम निर्धारित किये हैं। यद्यपि यह वार्तिककार का आलोचनात्मक ग्रन्थ है तथापि आलोचना अधिक स्वतन्त्र न होने के कारण अष्टाध्यायी का सहा-यक ग्रन्थ सिद्ध होती है। पतंजलि ने महाभाष्य में कात्यायन के आक्षेपों का उत्तर देते हुए यह सिद्ध किया है कि कात्यायन ने पाणिनि को समझने में अशुद्धि की है। इन्होंने जो नियम दिये हैं उन्हें 'इष्टि' नाम दिया गया है। महाभाष्य का महत्त्व संस्कृत भाषा के नियम निर्धारण में उतना अधिक नहीं है, जितना भाषा के दार्शनिक विवेचन में। ध्वनि क्या है ? वाक्य के कौन-कौन से भाग होते हैं। ध्वानसमूह और अर्थ में क्या सम्बन्ध है ? आदि महत्वपूर्ण विषयों पर विचार किया गया है। महाभाष्य की शैली सुन्दर और ललित है। संस्कृत वाङमय में यह अपना सानी नहीं रखता।

पाणिनि, पतंजलि और कात्यायन ये तीनों ऋषि संस्कृत व्याकरण के मुनित्रय कहे जाते हैं। टीकाओं में वामन व जयादित्य की काशिका सबसे अधिक प्रसिद्ध है। काशिका पर की गई टीकाओं में जिनेन्द्रबुद्धि का न्यास और हरदत्त की पदमंजरी भी प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। भाषा के दार्श-निक विवेचन में भर्तृहरि का वाक्यपदीय भी बड़े महत्व की पुस्तक है। इसके तीन खण्ड हैं—ब्रह्म खण्ड, वाक्य खण्ड तथा प्रकीर्ण या पदखण्ड। कय्यट ने इस तात्विक् विवेचन को अपने महाभाष्य प्रदीप में आगे बढ़ाया।

इस प्रदीप के टीकाकारों में नागोजि भट्ट का नाम भी उल्लेखनीय है।

टीका सम्प्रदाय के पश्चात् अष्टाध्यायी के सूत्रों पर अवलम्बित कौमुदीकारों का समय आता है। इस समय तक व्याकरण का वाङ्मय इतना विस्तृत हो चुका था कि पुराने क्रम को स्मृति पर लाना असम्भव था। कौमुदीकारों में विमल सरस्वती कृत रूपमाला सबसे प्रथम ग्रन्थ है। इनका समय १३५० माना जाता है। इन्होंने प्रत्याहार संज्ञा, परिभाषा, सन्धि, सुबन्त, निपात आख्यात, कृत, तद्धित् आदि का विषयानुकूल क्रम रखा। इस प्रकार के ग्रन्थों में भट्टोजी दीक्षित कृत सिद्धान्त कौमुदी प्रसिद्ध है। सिद्धान्त-कौमुदी के द्वारा संस्कृत के व्याकरण की परिपाटी इतनी प्रचलित हुई कि अष्टाध्यायी काशिका की परिपाटी लुप्त प्रायः हो गई। अन्य शाखाओं के व्याकरणों में हेमचन्द्र का शब्दानुशासन तथा बोपदेव का मुग्धबोध भी उल्लेखनीय है।

साहित्य शास्त्रियों तथा नैयायिकों ने भी इन शास्त्रों का अध्ययन करते हुए शब्द शक्ति का विवेचन किया। शब्द की अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना तीन शक्तियों के विषय, प्रयोजन आदि का तात्पर्य, वाक्यार्थ, स्फोट, स्वराघात आदि का विशद विवेचन किया। इनका विवेचन ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश, रसगंगाधर आदि ग्रन्थों में मिलता है। आधुनिक ग्रन्थों में जगदीश तर्कालंकार का बनाया हुआ शब्द-शक्ति प्रका-

इस प्रकार प्राचीन युग से ही भारतवर्ष में भाषा-विज्ञान का कार्य प्रत्येक अंग को लेकर शास्त्रीय शैली से किया गया। डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने ध्वनिविज्ञान के विषय की पुरानी सामग्री का अन्वेषण और अध्ययन करके भारतीय विवेचन को प्रतिभाशाली वर्ग के सम्मुख रखा।

इस विवेचन से प्रकट है कि भाषा-विज्ञान का आदिगुरु भारतवर्ष ही है। परन्तु कालचक्र से इसका यह कार्य लुप्त प्रायः हो गया था या यूँ कहा जाय कि किसी का ध्यान इस ओर आकृष्ट नहीं हुआ। वर्तमान युग में भाषा-विज्ञान सम्बन्धी कार्य करने वालों में स्वर्गीय रामकृष्ण गोपाल भंडारकर का नाम उल्लेखनीय है। भण्डारकर साहब ने यूरोपीय विद्वानों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का गम्भीर अध्ययन कर विलसन व्याख्यान माला के नाम से ग्रन्थ को १८७७ में प्रकाशित करवाया। ये संस्कृत भाषा के प्रगाढ़ पंडित थे अतः यह इनका ग्रन्थ कुछ बातों में तत्कालीन भाषा-वैज्ञानिकों के ग्रन्थ से अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ।

इस समय भारतीय भाषाओं के अध्ययन में कुछ यूरोपीय विद्वानों ने भी कार्य किया, जिनमें से ट्रम्प सिन्धी भाषा के लिए, कैन्डवैल द्राविड के लिये, आधुनिक भाषाओं के अध्ययन के लिये बीम्ज़ और होयनले का नाम विशेष रूप से प्रसिद्ध है। इन्हीं दिनों डा० ग्रियर्सन की देख-रेख में भाषा सर्वे की पुस्तक प्रकाशित हुई। डा० टर्नर का नैपाली कोष व्युत्पत्ति-विज्ञान में अपना सानी नहीं रखता। डा० बलाक का मराठी भाषा का विकास तथा भारतीय आर्य भाषाएँ दोनों ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण हैं। भारतवर्ष के वर्तमान भाषा-वैज्ञानिकों में डा० सुनीतिकुमार चेटर्जी का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। इनका बंगाली भाषा के विकास का कोष भी कई वर्गों में भाषा-विज्ञान की सम्पत्ति है। चेटर्जी केवल भाषा-विज्ञान ही नहीं, अपितु पुरातत्व विज्ञान के भी ज्ञाता हैं। यही कारण है कि इनका यह ग्रन्थ बड़ी व्यापक दृष्टि रखता है। केवल भाषा-वैज्ञानिक प्रसिद्ध हैं डा० सिद्धेश्वर वर्मा। इन्होंने कई भाषाओं तथा बोलियों की बहुत अच्छी खोज की है। इनके अतिरिक्त डा० धीरेन्द्र वर्मा ने भाषाओं का बहुत सुन्दर और वृहत

इतिहास लिखा है। डा० वनारसी दास जैन ने पंजाबी भाषा पर शोध-कार्य किया है। बाबूराम सक्सेना ने अवधी-भाषा पर तथा रामस्वामी ऐयर ने द्राविड़ी पर। इस प्रकार सभी ने अपने-अपने क्षेत्र में प्रतिष्ठा प्राप्त की है। डा० श्यामसुन्दर दास तथा डा० मंगल देव शास्त्री का कार्य भी भापा-विज्ञान के सम्बन्ध में वहुत सुन्दर है। आज के युग में इनकी पुस्तकें अत्यंत उपयोगी सिद्ध हो रही हैं।

प्रश्न ४—यूरोप में भाषाविज्ञान सम्बन्धी कार्य का विवरण दीजिए।

भापा-विज्ञान के इतिहास को पढ़कर साधारणतः पाठक यह समझ बैठते हैं कि भाषा का अध्ययन पाश्चात्य भापा-विज्ञान की विशेपता है। किन्तु जो भारत के इतिहास से परिचित है वह यह सब नहीं कहता। क्योंकि भारत में सुदूर वैदिककाल में यूनान और रोम की भाँति भापा की चर्चा होती रही है। इसके साथ-ही-साथ भारत के प्राचीन वैज्ञानिक अध्ययन की आधुनिक भाषा वैज्ञानिक अनुशीलन से तुलना भी की जा सकती है। भारतीय व्याकरण के विकसित रूप में शिक्षा-ग्रंथों; निरुक्त, रूप विचार, वाक्य-विचार तथा अर्थ विचार आदि भाषा-विज्ञान का मूल भूत अंग है। व्याकरण की उन्नति जैसी भारतवर्ष में हुई है, विश्व में कहीं नहीं हुई। पाणिनि जैसा वैयाकरण संसार में कहीं नहीं हुआ। पाणिनि से पूर्व अनेक शिक्षा ग्रंथों, निरुक्तों और प्रातिशाख्यों का विकास हो चुका था। जिस मध्यकाल में पाश्चात्य-भाषा-विज्ञान सर्वथा अन्धकार में चल रहा था, उस समय भी भारतवर्ष में वाक्यपदीयम् तथा भूपण की शब्द-शक्ति-प्रकाशिका जैसी वैज्ञानिक और दार्शनिक ग्रंथों की रचना हो चुकी थी। इससे प्रकट है कि भारतवर्ष में अति प्राचीन काल से ही भापा-विज्ञान का कार्य होता आया है।

अब देशी तथा विदेशी विज्ञान भारतवर्ष के इस प्रचुर व्याकरण साहित्य की सहायता से भारत की देशी भाषाओं का तथा भापासामान्य का अध्ययन करने का उद्योग कर रहा है। यह तो वात स्पष्ट है कि भारत का प्राचीन अध्ययन वैज्ञानिक होने पर भी आजकल की भाँति

उन्नत न था। आज से भिन्न था। क्योंकि बात तो यह थी कि प्राचीन शिक्षा निरुक्त आदि का अध्ययन वेद मंत्रों की पवित्रता तथा महत्ता के आधार पर स्थित था, अतः उसमें जान-बूझकर भाषा-सामान्य पर विचार नहीं किया जाता था।

ऐतिहासिक तथा भौगोलिक परिस्थितियों के कारण भी अधिक भाषाओं की परीक्षा उस समय नहीं हो सकती थी। अतः यह कहना कि भाबा-विज्ञान पश्चिम की उपज है, कुछ उचित नहीं जान पड़ता। हाँ! आधुनिक रूप में वह पश्चिम से प्रभावित अवश्य है।

अब प्रश्न यह उठता है कि यूरोप में भाषा-विज्ञान के सम्बन्ध में क्या कार्य हुआ?

यूरोप में भाषा-विज्ञान का विवेचन भारत की अपेक्षा बहुत देर से प्रारम्भ हुआ। भारत की भाँति वहाँ कोई अपौरूषेय ग्रन्थ नहीं थे, जिनके संरक्षण की आवश्यकता पड़ती। ऐसी परिस्थिति में भाषातत्वों का अन्वेषण देर से होना स्वाभाविक ही था। भारतवर्ष में किये गये भाषा-सम्बन्धी अन्वेषण से सहायता प्राप्त कर यूरोप में भी भाषा की विवेचना गहराई और विस्तार के साथ की गई।

ग्रीस के प्रसिद्ध तत्ववेत्ता सुकरात को यह प्रतीत हुआ कि ध्वनि और विचार में समवाय सम्बन्ध नहीं है उनका विचार था कि भाषा की सृष्टि हो सकती है, जिसमें ऐसा सम्बन्ध रहे। प्लेटो ने विचार और भाषा की एकता का अनुभव किया और विचार को भाषा का अंतरंग रूप निर्धारित किया। इन्होंने ग्रीक ध्वनियों का वर्गीकरण सघोष और अघोष में किया। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत स्वरों को रख दिया और दूसरे वर्ग के अन्तर्गत अन्य ध्वनियों को।

अरस्तु ने वाक्यों का पदों में विभाजन कर संज्ञा और क्रिया पर विशेष रूप से प्रकाश डाला। कारक तथा उनको प्रकट करने वाले चिह्नों पर भी इन्होंने ही विचार किया। य वर्ण को मूल और अक्षर ध्वनि मानते हैं। इनके अनुसार उसका विभाजन नहीं हो सकता। उसके इन्होंने

तीन भेद किये हैं। स्वर, अन्तस्थ और स्पर्श। इसके और भी आगे चल कर ह्रस्व, अल्पप्राण, और महाप्राण भेद कर दिये हैं। इस सम्बन्ध में अरस्तु द्वारा दी गई स्वर की परिभापा वहुत वैज्ञानिक है।

ग्रीक भापा के सर्वप्रथम व्याकरण को वनाने वाले 'थ्रैक्स' थे। इन्होंने कर्त्ता और क्रिया के परस्पर अन्वय पर तथा लिङ्ग, वचन, विभक्ति पुरुप और काल, वृत्ति पर प्रकाश डाला। इनका ग्रीक भापा का यह पहला व्याकरण तेरह-चौदह शताब्दियों तक प्रमाणिक ग्रन्थ माना जाता रहा है। अब भी उसकी उपादेयता कम नहीं हुई।

ग्रीस से जब सभ्यता का केन्द्र रोम पहुँचा, तो लैटिन और ग्रीस दोनों भाषाओं का अध्ययन होने लगा। ग्रीक व्याकरण के आधार पर लैटिन के व्याकरण भी वनने लगे। इससे पता चलता है कि अवश्य ही इनकी समान्यताओं और विपमताओं पर ध्यान गया होगा। ईसाई धर्म के प्रचार के कारण यहूदी भाषा इब्रानी का भी अध्ययन होने लगा। साम्राज्य में स्थित पड़ौस के देशों की अरवी सीरी आदि साहित्यिक भापाओं पर भी थोड़ा-वहुत अध्ययन हुआ और शीघ्र ही लैटिन के अध्ययन ने सारे यूरोप में ख्याति प्राप्त की। लैटिन में सर्वप्रथम व्याकरण लिखने का श्रेय १५-वीं सदी के एक विद्वान् लौरेंशस वाल को है। इससे लैटिन का अध्ययन वहुत स्पष्ट और सरल हो गया। उच्चरित भापा की अपेक्षा लिखित भापा की प्रधानता, रूपविभिन्नता के अभाव में भी उसके अस्तित्व की खोज, कोप-ग्रन्थों में व्युत्पत्ति आदि के लिए लैटिन शव्दों का सहारा लिया गया। इस प्रकार कहा जा सकता है कि नवीन युग के जागरण-आन्दोलन से कुछ पहले सभी लोगों की प्रवृत्ति अपनी प्राचीन भापाओं की ओर उन्मुख हुई, जिसके फलस्वरूप कोप और व्याकरणों की रचनाएँ हुईं।

१८वीं शताव्दी में कई विद्वानों का ध्यान भापा के उद्गम की ओर गया। प्रसिद्ध दार्शनिक रूसो ने अपने मत से यह स्पष्ट किया है कि सवसे पहले भापा को आदिम मनुष्यों ने इकट्ठे एकत्रित होकर वनाया। इसी प्रकार कोंडिलक ने भापा उद्गम का कारण भावाभिव्यक्ति,

भावातिरेक से उत्पन्न वाद को ही माना है। इसी शताब्दी में 'जैनिश' ने 'आदर्श-भाषा' नामक विषय पर एक निबन्ध लिखा। इसमें इन्होंने भाषा के लक्षणों का विवेचन किया और उनके अनुसार लैटिन, ग्रीक तथा यूरोपीय आदि भाषाओं की तुलनात्मक जाँच की। इस शताब्दी में हर्डर और जैनिश ने अपने विवेचन से भाषा-विज्ञान की नींव रखी।

वास्तव में १९वीं शताब्दी भाषा-विज्ञान का समय माना जाता है। क्योंकि इसमें इसका पूर्ण विकास हुआ। नई-नई भाषाएँ अध्ययन का विषय बनाई गई। लैटिन, ग्रीक आदि भाषाओं की विवेचना हुई। तुलनात्मक अध्ययन को प्रश्रय मिला। सब से महत्वपूर्ण बात तो यह हुई कि ध्वनि या रूप के विभिन्न रूपों से ही सन्तोष नहीं हुआ, अपितु उनका परस्पर ऐतिहासिक सम्बन्ध भी ढूँढ़ा जाने लगा। भाषा विज्ञान के बनने से सबसे अधिक प्रभाव संस्कृत के अध्ययन में हुआ। कलकत्ता में रायल-ऐशियाटिक सोसाइटी के बनने से सर विलियम जौंस ने संस्कृत का महत्त्व बतलाया और यह स्पष्ट किया कि गठन की दृष्टि से यह लैटिन और ग्रीक के अधिक निकट है। इसके साथ-ही-साथ प्राचीन फारसी, केल्टी और गाथी भी इससे सम्बन्धित हैं। आरम्भ के संस्कृत विद्वानों में कोलब्रुक का नाम उल्लेखनीय है।

प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् फ्रीडरिख श्लेगल ने १८०८ में 'भारतीय भाषा और ज्ञान' के विषय पर एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा। प्रथम बार इन्होंने तुलनात्मक व्याकरण का नाम लिया और कुछ ध्वनि नियमों की ओर भी संकेत किया। इन्होंने भाषा को दो वर्गों में विभाजित किया। १. संस्कृत तथा सगोत्र भाषाएँ २. अन्य भाषाएँ। इनके ही एक भाई अडोल्फ शलेगल ने श्लिष्ट भाषाओं को दो वर्गो, संयोगात्मक और वियोगात्मक में बाँटा।

१९वीं शताब्दी के भाषा विज्ञान के प्रसिद्ध संस्थापक बाँप, ग्रिम और रेस्क आते हैं। बाँप ने संस्कृत और ग्रीक भाषाओं में स्वराघात पर विचार किया। विभिन्न भाषाओं में धातु रूपों की तुलना करके इनका परस्पर सम्बन्ध स्थापित किया। इनका सबसे बड़ा सिद्धान्त वाक्य यह है कि

भाषा-विज्ञान के नियम अपनी एक निश्चित परिधि के बीच में सत्य होते हैं। जैकब ग्रिम की महत्वपूर्ण कृति देव भाषा व्याकरण है। जर्मन भाषा में इनका व्याकरण प्रकाशित हुआ। ध्वनि परिवर्तन में इन्होंने एक नियम का शास्त्रीय प्रतिपादन किया। इन नियमों को ग्रिम नियम कहते हैं। रैज्मस रैस्क अपने लड़कपन से ही वैयाकरण प्रसिद्ध हो गये थे। इन्होंने आइसलैंड की भाषा का शास्त्रीय ढंग से अध्ययन किया। उनका मत यह है कि ग्रन्थों के अभाव से किसी भी देश का इतिहास उस देश की भाषा से जाना जा सकता है। भाषा के ज्ञान के लिए शब्दावली से अधिक उसकी भाषा पर ध्यान देना आवश्यक है। इन्होंने फीनो-उग्री भाषाओं का बड़ा अच्छा वर्गीकरण किया।

पश्चिम में संस्कृत आदि का जो अध्ययन हुआ यद्यपि समय की दृष्टि से वह कार्य महत्वपूर्ण था परन्तु अध्ययन की गहराई और व्यापकता उसमें नहीं पाई जाती। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इस कार्य ने आगे आने वाले अध्ययन के लिए पर्याप्त सामग्री और उपजाऊ भूमि हमें दी।

आगे होने वाले कार्य में मुख्य रूप से प्रवृत्ति इस ओर रही—

१. संस्कृत को विशेष महत्त्व दिया गया।

२. प्राचीन भाषाओं का अध्ययन करना मुख्य समझा गया।

३. तुलनात्मक और ऐतिहासिक अध्ययन हुआ।

४. परिवारों की कल्पना की गई।

५. आकृतिमूलक वर्गीकरण की ओर ध्यान दिया गया।

६. प्रत्ययों को सार्थक समझने लगे।

७. भाषा विज्ञान को लोग निश्चित रूप से विज्ञान समझने लगे।

इस दिशा में अगस्टश्लाइश्वर, के० एम रैप, कोर्टयस ने महत्वपूर्ण कार्य किया। १९वीं शताब्दी में १८२३ के लगभग मैक्समूलर ने एक महत्वपूर्ण कार्य किया। इन्होंने भाषा के उद्गम, विकास प्रकृति, तथा विकास के कारणों आदि पर विचार किया और परिणामों को भी एकत्रित किया। इन्होंने १८६१ में भाषा-विज्ञान पर व्याख्यान दिया और

शीघ्र ही पुस्तकाकार में प्रकाशित हो गए। इनकी शैली की रोचकता और प्रसाद गुण के कारण बड़े लोक प्रिय प्रमाणित हुए। पढ़ी लिखी जनता का ध्यान इस विज्ञान की ओर जितना मैक्समूलर ने आकृष्ट किया उतना और किसी ने नहीं। मैक्समूलर ने भाषा-विज्ञान को विज्ञान सिद्ध किया। तुलनात्मक व्याकरण से भी इसका भेद विशद रूप से उन्होंने दिखाया। ये भाषा-विज्ञानी गौण रूप से हैं। इसी कारण भाषा-विज्ञान-व्याख्यान-माला में साहित्यिकों की तरह थोड़ा बहुत बहक गए हैं।

इसी दिशा में दूसरा विद्वान् ह्विटनी है। इन्होंने भाषा और भाषा का अध्ययन ग्रन्थ लिखा। इनका लिखा हुआ दूसरा ग्रन्थ भाषा और जीवन का विकास है। ये मैक्समूलर के बड़े प्रतिद्वन्द्वी रहे हैं। इन्होंने मैक्समूलर और भाषा-विज्ञान नाम की एक पुस्तक भी लिखी।

१९वीं शताब्दी के तृतीय चरण में हैमैन स्टेंन्थल ने भाषा-विज्ञान का कार्य किया। इनका कथन है कि भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन मनोविज्ञान के आधार पर करना असम्भव है। इन्होंने अपने ग्रन्थ में मनोविज्ञान तर्कशास्त्र और व्याकरण के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन किया। इस प्रकार इस क्षेत्र में इनका कार्य सराहनीय है।

कार्लबुगमैन नव शाखा के विद्वानों में सबसे प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त नव शाखा के भाषा-वैज्ञानिकों में ग्रासमैन, डेलब्रुक और हर्मन पाल प्रमुख हैं। हर्मन पाल ने १८८० में भाषा परिवर्तन के क्या कारण हैं। उन कारणों का वर्गीकरण किस प्रकार किया जा सकता है आदि प्रश्नों पर प्रामाणिक पुस्तक लिखी।

इस प्रकार अब भाषा-विज्ञान की सराहनीय उन्नति होने लगी है। जैस्पर्सन, टर्नर, स्वीट आदि आधुनिक काल के प्रसिद्ध विद्वान् हैं। इनमें से कुछ विद्वान् नए सम्प्रदाय की संकीर्णता को दूर करने के लिए पुराने सम्प्रदाय को अपने ंग से अपनाने का प्रयत्न कर रहे हैं।

सभी भाषाएँ उसी भाषा से बिगड़ कर बनी हैं। उदाहरणार्थ हिन्दू वेदों को अपौरूषेय मानते हैं और संस्कृत को देव भाषा तथा सब भाषाओं की जननी समझते हैं।

इसी प्रकार ईसाई लोग (Old Testment) (प्राचीन विधान) को इस भूमण्डल की सबसे प्राचीन पुस्तक मानते हैं। उनका कहना है कि आदम और हव्वा में ही सर्वप्रथम विचार-विनिमय हुआ था।

बौद्ध लोग पाली को ईश्वर की प्रथम भाषा मानते हैं। उनके अनुसार यदि बच्चे को माँ-बाप और कोई भाषा न सिखायें तो वह स्वभावतः पाली ही बोलेगा।

जहाँ तक धर्म में अन्य विश्वास रखकर इस मत को मानने का प्रश्न है, वहाँ तक तो यह मत ठीक है। परन्तु आज का वैज्ञानिक युग इस मत का निराकरण सहज में ही कर देता है।

खण्डन—यदि भाषा दैवी उत्पत्ति होती तो वह प्रारम्भ से विशिष्ट, उन्नत, सम्पन्न, और परिमार्जित होती। परन्तु ऐसा हम नहीं देखते। भाषा का विकास धीरे-धीरे होता है।

मनुष्य ईश्वर से भाषा सीखकर ही आता है। इस मत के परीक्षण हेतु भी मिश्र के राजा सेमेटिक्स ने तत्काल पैदा हुए दो बच्चों को एक पार्क में अन्य मनुष्यों से दूर रखा। परिणाम यह हुआ कि वे बच्चे गूंगे निकले। उनके मुखसे 'बेकोस' शब्द निकला जो कि रोटी के लिये फ्रिरियन भाषा में प्रयुक्त होता है और जो उन्होंने रोटी लाने वाले के मुख से सुन लिया था। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य अपने साथ भाषा लेकर नहीं आता। इसलिए भाषा का ईश्वर-प्रदत्त होना सार्थक सिद्ध नहीं होता। भाषा तो मनुष्य की सार्वभौम तथा विशेष सम्पति है जो अन्य प्राणियों को अप्राप्य है।

सांकेतिक-उत्पत्ति—भाषा की उत्पत्ति के विषय में यह दूसरा मत है। इस विषय में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि भाषा को मनुष्य-सृष्टि के साथ ईश्वर ने नहीं रचा, तो भी उसको आदिकालीन मनुष्य

समाज ने बना लिया। आदि काल में जब मनुष्य जंगली और असभ्य था तब वह अंग संचालन के संकेतों द्वारा ही विचार-विनिमय कर लेता था। परन्तु जब अंग संचालन के संकेतों द्वारा उसका यथेष्ट कार्य न चल सका, तब समुदाय ने एकत्रित होकर अपनी इस अवस्था पर विचार किया। अपने विचारों के लिये भिन्न-भिन्न शब्दों का निर्माण कल्पना द्वारा व्यवहारार्थ कर लिया। आज की भाषा उन्हीं ध्वनिसंकेतों का विकसित रूप है।

समीक्षा—इस मत पर यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि जब पहले-पहल भाषा ही नहीं थी तो मनुष्यों ने समझौते के समय विचारों के विनिमय में किस साधन का प्रयोग किया होगा।

समुदाय ने एकत्रित होकर अपनी अवस्था पर विचार संकेतों द्वारा ही किया होगा। फिर क्या किसी वस्तु का विचार करते ही उसकी ध्वन्यात्मक प्रतिभा उनके सामने आ गई। यदि वस्तु का नाम ही पहले से निश्चित नहीं था, तो उसकी प्रतिभा विचार और मस्तिष्क में एकदम कैसे आई!

यदि उनका काम हस्त संचालन और संकेतों द्वारा ही चल सकता था तो फिर उन्हें भाषा की आवश्यकता ही क्या थी।

इस मत में तथ्य इतना ही निकलता है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध लोकेच्छा का शासन चाहता है। दूसरा—शब्दमयी भाषा का उद्भव मनुष्य की उत्पत्ति के कुछ समय उपरान्त हुआ।

धातु सिद्धान्त—बर्लिन के अध्यापक हेस (Heyse) के मत के आधार पर अध्यापक मैक्सम्यूलर ने भाषा की उत्पत्ति के विषय में एक अनोखे मत का प्रतिपादन किया है। यह मत मैक्सम्यूलर के शब्दों में इस प्रकार है—"प्राय: सारी प्रकृति में यह नियम पाया जाता है कि प्रत्येक वस्तु टकराने पर शब्द करती है। यह शब्द या झंकार प्रत्येक पदार्थ के सम्बन्ध में एक विशेष प्रकार की होती है। धातुओं के स्वरूप को हम उनकी आवाज या कम्पन से पहचान लेते हैं। ताँबा, पीतल, टीन, लोहे की झंकार और कम्पन की आवाज एक निश्चित प्रकार की है। प्रकृति के कामों में सर्वश्रेष्ठ रचना से युक्त मनुष्य में भी यही बात पाई

जाती है। सृष्टि के आरम्भ में एक ऐसी 'विभाविका' शक्ति मनुष्य में भी थी। जब मनुष्य किसी वस्तु को देखता था तब उसके मुख से स्वयमेव ही एक प्रकार की ध्वनि प्रकट हो जाती थी। यह एक नैसर्गिक शक्ति थी जो भाषा विकसित होने पर नष्ट हो गई। मैक्सम्यूलर के आधार पर भाषा का प्रासाद उन्हीं मुख से निकली हुई ध्वनियों के आधार पर खड़ा हुआ है।

इस मत का सबसे बड़ा आधार यह है कि भाषा और विचार का नित्य सम्बन्ध है। विचार के बिना वर्णात्मक शब्दों की रचना नहीं हो सकती। जब कोई मनुष्य बोलता है तो समझना चाहिए कि वह ऊँचे स्वर में सोच रहा है। जब वह सोचता है तो समझना चाहिए कि वह धीरे-धीरे बोल रहा है। दूसरे शब्दों में इस मत का आधार यह है कि एक प्रकार की स्वाभाविक आन्तरिक प्रेरणा से ही विचार भाषा में प्रकट हुए।

समीक्षा—भाषोत्पत्ति-विषयक इस मत की दुर्बलता दिखाना कोई कठिन बात नहीं। आश्चर्य का विषय यह है कि मैक्सम्यूलर ने अन्य मतों का खण्डन करके इस मत का प्रतिपादन तो किया परन्तु अपने पक्ष में किसी विशेष हेतु को आधार नहीं बनाया। मनुष्य के विचारों को स्वभावतः वर्णात्मक स्वरूप देना, बिना किसी प्रमाण के शक्ति की कल्पना करना वैसा ही है जैसे भाषा की उत्पत्ति दैवी-शक्ति के द्वारा मानना।

यह भी बात विचारणीय है कि विचार मानसिक वस्तु है और भाषा भौतिक। दोनों का स्वाभाविक और नित्य सम्बन्ध होना कठिन है। क्योंकि भाषा और विचार एक साथ मन में पैदा नहीं होते। उनमें क्षण मात्र का अन्तर अवश्य होता है। विचार को भाषा स्थायी रूप प्रदान करती है। परन्तु ऐसा नहीं कि कोई विचार तब तक हमारे मन में आता ही नहीं जब तक उसको प्रकट करने के लिए कोई शब्द हम न जानते हों। इस प्रकार यह मत स्वयं ही निराधार सिद्ध होता है।

वर्णित मतों से यह बात तो स्पष्ट हो गई है कि भाषा की उत्पत्ति एकाएक नहीं हुई और न ही स्वेच्छा, स्वभाव और दैविक प्रेरणा से

हुई। अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि भाषा का विकास सभ्यता के अन्य अंगों की भाँति धीरे-धीरे ही हुआ। चौथा मत इसी प्रकार का समर्थन करता है।

अनुकरण मूलकतावाद—कुछ विद्वानों का कथन है कि मनुष्य के प्रारम्भिक शब्द अनुकरणात्मक थे। पहले पदार्थों और क्रियाओं के नाम जड़-चेतनात्मक बाह्य-जगत् की ध्वनियों के अनुकरण के आधार पर रखे गये—जैसे काँव-काँव की ध्वनि पर काक, म्याऊँ, कुकू कोकिल आदि की रचना हुई। ऐसे ही हिनहिनाना, भौं-भौं करना आदि क्रियाओं का निर्माण हुआ। पत्ते के गिरने की ध्वनि से 'पत' धातु का और पानी की तेज धारा को बहते देखकर 'नद' धातु का निर्माण हुआ। इस प्रकार पत्ता, नदी तथा पत्र शब्द का निर्माण हो गया। इस प्रकार ध्वनियों का अनुकरण करके भाषा में शब्दों का पर्याप्त संग्रह हो गया। इन्हीं बीज रूप मूल शब्दों के द्वारा धीरे-धीरे भाषा का विकास हुआ है। इस सिद्धान्त को अनुकरण मूलकतावाद कहा गया।

समीक्षा—इस मत पर यह आपत्ति उठाई गई कि जब मानव ने पशु-पक्षियों की ध्वनियों का अनुकरण किया तो उसने मनुष्यों की ध्वनियों का अनुकरण भी किया होगा तब इस मत को आंशिक रूप से भाषा के विकास में सहायक माना गया। क्योंकि भाषा कोष के अनेक शब्दों का निर्माण इसी के आधार पर हुआ है।

मनोभावाभिव्यंजकतावाद—भाषा की उत्पत्ति में यह मत पूर्व वर्णित मत की पुष्टि करता है। मनुष्य भावावेग के अवसर पर अपने हर्ष, शोक, आश्चर्य, घृणा आदि को सहसा ही "हा" "हा"! "हाय", "अहह", "ओह", "आह", के रूप में प्रकट कर देता है। इस प्रकार की स्वाभाविक ध्वनियाँ मनुष्य में ही नहीं अन्य प्राणियों में भी पाई जाती हैं। ये ध्वनियाँ मनोवेगों की अभिव्यंजना करती हैं। भाषा का मुख्य उद्देश्य भी भावों की अभिव्यक्ति करना रहा है। इन्हीं ध्वनियों ने

धीरे-धीरे वर्णात्मक स्वरूप धारण किया और मानवी भाषा के रूप को प्राप्त हो गई।

समीक्षा—इसमें सन्देह नहीं कि यह सिद्धान्त पर्याप्त सीमा तक भाषा की उत्पत्ति के विषय में समाधान कर देता है परन्तु सम्पूर्ण भाषा की सृष्टि इन्हीं शब्दों के आधार पर हुई हो, ऐसा कहना असम्भव है। क्योंकि इन शब्दों का व्यवहार तभी होता है जब मनुष्य के मनोभाव उसकी इन्द्रियों को इतना अभिभूत कर लेते हैं कि वह निर्वाक हो जाता है। भाषा में ऐसे शब्दों की संख्या बहुत कम है। दूसरी कठिनाई यह है कि विस्मयादिबोधक शब्द परम्परा-प्राप्त होते हैं। आज ऐसे जो शब्द प्राप्त हैं वे स्वाभाविक न होकर सांकेतिक हैं।

यो-हे-हो-वाद—इस वाद का दूसरा नाम श्रम-परिहरणमूलकतावाद भी है। मानव जब सामूहिक रीति से शिकार, पेड़ों के गिराने आदि का काम करता है तो सामूहिक कार्य करते हुए श्वाश-प्रश्वास का वेग बढ जाता है और इस कारण स्वर तंत्रियों में कम्पन होता है और स्वभावतया कुछ शब्द निकल पड़ते हैं। इसी प्रकार चोट आदि के लगने से एकाएक झंकार होती है। आदिकाल में मनुष्य इस प्रकार के आघातों को सहकर कुछ-न-कुछ ध्वनियाँ प्रकाशित करता था। आज भी प्रायः देखा जाता है कि धोबी 'हियो' या 'छियो' कहते हैं। इस प्रकार की व्यक्त ध्वनियाँ ही भाषा का आदि रूप बन गई हैं। परन्तु इन शब्दों का भी भाषा में कोई विशिष्ट स्थान नहीं है।

विकासवाद का समन्वित रूप—इस प्रकार आदि सृष्टि के कुछ काल पश्चात् मनुष्य ने स्वभावतया ही कुछ अनुकरणात्मक शब्द जैसे कौआ, कोयल, म्याऊँ, हिनहिनाना आदि, कुछ मनोभावाभिव्यंजक शब्द जैसे आह, वाह, धिक्, छिः, हाय, हा! हा! तथा कुछ प्रतीकात्मक जैसे पिता, मामा, पापा, बाबा आदि बना लिए थे। स्वीट ने आदिम भाषा के शब्दों के तीन भेद कर दिए—अनुकरणात्मक, मनोभावाभिव्यंजक तथा प्रतीकात्मक। स्वीट ने प्रतीकात्मक शब्दों को अधिक

क्रमश: भाषा का विकास होता गया। इसी प्रकार व्याकरण आदि के नियमों के अनुसार प्रयोग बनते और समाज के व्यवहार द्वारा स्वीकृत होते गए।

प्रश्न ६—बोली, विभाषा, भाषा और राष्ट्रभाषा का अन्तर स्पष्ट कीजिए।

विचारों की अभिव्यक्ति के लिए जिन ध्वनि-संकेतों का व्यवहार होता है वे ही भाषा कहलाते हैं। इसी परिभापा को कुछ शाब्दिक हेरफेर के साथ स्वीट ह्विटने, ह्विटलर आदि भापा-वैज्ञानिकों ने अपनी पुस्तकों में दिया है। इस सूत्र को समझने के लिये भाषा के चार स्कन्ध माने गये हैं श्रोता, वक्ता, शब्द और अर्थ। कई बार भाषा के ध्वनि-संकेतों का महत्त्व अधिक हो जाता है। भाषा एक सामाजिक क्रिया है, जिसमें वक्ता और श्रोता दोनों को महत्त्व दिया जाता है, क्योंकि यह उनके विचार-विनिमय का साधन है। भाषा मनुष्य और सृष्टि के साथ अनियन्त्रित तथा प्रवाहित रूप से चली आ रही है। मनुष्य उसे अपनी अन्त: प्रेरणा से सीखता है और अन्तकाल तक उसका व्यवहार करता रहता है। भाषा समाज-सापेक्ष वस्तु है अत: मनुष्य से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। भाषा मनुष्य के आभ्यन्तर विचारों का बाह्य रूप और शरीर है। वक्ता जब अपने विचारों को श्रोता पर प्रकट करता है तो वह भाषा को ही अपना साधन बनाता है। भाषा-विज्ञान में भाषा से उन ध्वनि संकेतों से अभिप्राय है, जो सार्थक हों तथा जिनके द्वारा किसी प्रकार के भाव तथा विचारों का प्रकाशन हो सके। भाषा का शरीर प्रधानत: उन व्यक्त ध्वनियों से बना है जिन्हें वर्ण कहते हैं पर उसके कुछ सहायक अागे भी होते हैं। आँख और हाथ के इशारे कुछ जंगली या अपढ़ लोगों में पाये जाते हैं। शिक्षित लोग भी आवश्यकता अनुसार उन संकेतों का प्रयोग करते हैं। किसी भिन्न भाषा-भाषी को भी हम अपने विचार बताने के लिये संकेतों का आश्रय लेते हैं। घृणा, गर्व, क्रोध आदि को जताने के लिये मुख-विकृत करते हैं। इस प्रकार मुख-विकृति भी भाषा का एक

अंग है। कभी-कभी हम बातचीत के लहज को बदल देते हैं। बिना देखे भी हम किसी की कड़ी आवाज, भरी आवाज अथवा भर्राये और टूटे स्वर से उसके विचारों को समझ जाते हैं। यह लहजा, आवाज और स्वर-विकार भी भाषा का एक अंग है।

भाषा में बल-प्रयोग और उच्चारण का वेग भी होता है। जोर से पढ़ने पर उसका महत्त्व स्वयं स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार मुख विकृति, स्वर विकार, स्वर, बल, प्रवाह आदि भाषा के गौण अंग हैं। जैसे-जैसे भाषा विकसित और वेगवान होती जाती है वैसे-वैसे इन गौण अंगों की महत्ता कम होती जाती है।

में व्यवहृत होने वाली एक शिष्ट परिगृहीत विभाषा ही भाषा का रूप धारण कर लेती है। उदाहरण के तौर पर युक्त प्रान्त में अपने-अपने उपप्रांतों की अनेक विभाषाएँ प्रचलित हैं, परन्तु उनमें देहली और मेरठ की खड़ी बोली, जो प्रान्त की विभाषा थी, सबसे अधिक साहित्यिक रूप धारण करने के कारण उस प्रान्त की भाषा कहलाने लगी। यदि कोई बोली अधिक महत्ता को प्राप्त कर जाती है तो उसकी प्रसिद्धि का मुख्य आधार राजनीति होता है। जो बोली अधिक राजनैतिक क्षेत्र से अभिभूति रहती है वह अवश्य ही विकासोन्मुख होती है। दिल्ली के समीप खड़ी बोली आज हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तों की प्रमुख भाषा है। इसके कारण मैथिली, अवधी, व्रज आदि की उतनी महत्ता नहीं रही। इसी प्रकार पेरिस की फ्रेंच और लंदन की अंग्रेजी बोली अपनी अपनी अन्य भाषाओं को छोड़कर प्रगतिशील हो रही हैं। मराठी में कोंकड़ी, काखड़ी और वरारी बोलियाँ केवल बोलियाँ मात्र ही रह गईं, पर पूना की बोली साहित्यिक रूप धारण कर चुकी है। इस प्रकार यह स्वतः स्पष्ट है कि बोलियाँ अपने रूप और स्वभाव की स्वयं रक्षा करती हैं। जब कभी प्रान्त आदि में आन्दोलन और संघर्ष पैदा होता है और भाषा छिन्न-भिन्न होने लगती है तब विभाषाएँ ही अपने-अपने प्रान्त में स्वतन्त्र हो बैठती हैं क्योंकि विभाषाओं का अपने प्रान्त पर जन्मसिद्ध अधिकार होता है। परन्तु भाषा राजनैतिक, धार्मिक या सामाजिक आन्दोलन से अधिक विशाल और व्यापक होती है।

जब 'विभाषा' भाषा का रूप धारण कर लेती है तो वह एक पग आगे बढ़कर विकासोन्मुख होती हुई राष्ट्रभाषा का पद ग्रहण करती है। राष्ट्र के कार्यों के संचालन के लिए सब प्रान्तीय भाषाओं में से किसी एक प्रान्त की भाषा को, जो राष्ट्र में सबसे अधिक प्रचलित होती है, सुगम तथा देश की संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाली होती है उसे राष्ट्रभाषा कहते हैं। जनसाधारण की भाषा तथा देश की अधिकतम भाषा ही राष्ट्रभाषा निर्वाचित की जाती है। सर्वसाधारण की भाषा का

मूल्य साहित्यिक भाषा की अपेक्षा अधिक होता है। उदाहरणार्थ—मेरठ और देहली की एक विभाषा खड़ी बोली विकासोन्मुख होते-होते सब भाषाओं को अपने आधिपत्य में रखकर राष्ट्रभाषा बन गई। राष्ट्रभाषा और भाषा में अन्तर यह है कि विभाषा की सीमा भूगोल स्थिर करता है और भाषा की सीमा सभ्यता संस्कृति और जातीय भावों पर निर्भर है। उदाहरणार्थ आजकल की फ्रेंच और अंग्रेजी भाषाएँ पेरिस और लंदन नगर की विभाषाएँ हैं। राजधानियों की राजनैतिक महत्ता के कारण वह इतनी प्रधान बन गई कि वे आज राष्ट्रीय भाषा हो गई।

प्रश्न ७—स्पष्ट कीजिए कि भाषा अर्जित सम्पत्ति है या परम्परागत?

भाषा ध्वनि-संकेतों का समूह मात्र है। इसलिए मनुष्य-मनुष्य के बीच वस्तुओं के विषय में अपनी इच्छा और मति का आदान-प्रदान करने के लिए व्यक्त ध्वनि संकेतों का जो व्यवहार होता है, उसे भाषा कहते हैं। भाषा समाज-सापेक्ष वस्तु है। मनुष्य समाज की पहली इकाई है। वह सहयोग और विनिमय के बिना नहीं रह सकता। उसकी यही प्रबल प्रवृत्ति भाषा के रूप में प्रकट होती है। जिससे भाषा सामाजिक सहयोग का साधन बन जाती है। मनुष्य का भाषा के साथ चोली-दामन का सा साथ है। इस पर भी प्रश्न यह पैदा होता है कि मनुष्य भाषा को पैतृक परम्परागत के रूप में प्राप्त करता है या प्रयत्न द्वारा उसका उपार्जन करता है।

भाषा एक परिवर्तनशील वस्तु है। उसका रूप प्रतिक्षण परिवर्तित होता है। जो रूप एक बार निश्चित् हो जाता है, वह कुछ ही समय के पश्चात बदल जाता है। समाज की विचारधाराओं के परिवर्तन के साथ-साथ व्यक्त-ध्वनि-संकेत बदलते रहते हैं। इससे यह पता चलता है कि भाषा के ध्वनि-संकेत संसर्ग की कृति हैं। किसी वस्तु के लिए किसी ध्वनि संकेत का प्रयोग अर्थात् एक अर्थ से एक शब्द का सम्बन्ध सर्वथा आकस्मिक होता है। धीरे-धीरे संसर्ग या अनुकरण के कारण वक्ता या श्रोता उस सम्बन्ध को स्वाभाविक समझने लगता है। वक्ता सदा विचार

कर या बुद्धि की कसौटी पर कसकर शब्द नहीं गढ़ता। यदि वह ऐसा कर भी लेता है, तो भी वह अपने शब्द को अन्य वक्ताओं और श्रोताओं की बुद्धि के अनुरूप नहीं बना सकता। इसीसे यह माना जाता है कि जब एक शब्द चल पड़ता है तो उसे लोग संसर्ग द्वारा सीखकर उसका प्रयोग करने लगते हैं। वे उसे तर्क या विज्ञान की कसौटी पर कसने का प्रयत्न नहीं करते। यही कारण है कि भाषा अपने पूर्वजों से सीखनी पड़ती है। प्रत्येक पीढ़ी अपनी नई भाषा पैदा नहीं करती। घटना और परिस्थिति के कारण भाषा में कुछ विकार भले ही आ जायें पर जान-बूझकर वक्ता उसे परिवर्तित नहीं करते। इससे पता चलता है कि भाषा एक परम्परागत सम्पत्ति है। यही भाषा की अविच्छिन्न धारा का रहस्य है।

भाषा केपरम्परागत होने और उसकी अविच्छिन्न धारा के प्रवाहित होने का यह तात्पर्य नहीं कि भाषा कोई पैतृक या कुल क्रमागत वस्तु है। भाषा भी अन्य कलाओं की भाँति एक कला है। जो संसर्ग और प्रयत्न द्वारा उपार्जित होती है। जिस प्रकार पुत्र को पिता की सम्पत्ति उत्तराधिकारी के रूप में प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार पिता की भाषा पुत्र को प्राप्त नहीं हो सकती। यदि कोई व्यक्ति किसी भाषा का विशेषज्ञ है तो आवश्यक नहीं कि उसका पुत्र भी जन्म से उसी भाषा का विशेषज्ञ या विद्वान् हो। इसके विपरीत यह भी हो सकता है कि वह दूसरों के संसर्ग से किसी अन्य भाषा का विशेषज्ञ बन जाये। एक बालक अपनी मातृभाषा के समान ही दूसरी भाषा भी सीख सकता है। बच्चे की मातृभाषा वही है जो उसकी मां बोलती है। यदि भारतीय माता-पिता के बच्चे जन्मकाल से ही किसी विदेशी महिला से पोषित किये जायेंगे तो वे भारतीय बच्चे अपने माता-पिता की बोली न सीखकर उसी विदेशी महिला की बोली सीखेंगे। इसके अतिरिक्त मनुष्य प्रयत्न द्वारा एक भाषा की अपेक्षा अनेक भाषाएँ भी सीख लेता है। केल्ट जाति के लोग फ्रांस में रहते हैं पर वे आज केल्टिक भाषा न सीखकर लेटिन

से उत्पन्न फ्रेंच बोलते हैं। इसी प्रकार भारत के पारसी आज अपनी प्राचीन भाषा का व्यवहार नहीं करते। वे गुजराती व उर्दू का प्रयोग करते हैं। यही दशा हब्शियों की भी है। वे संसार के प्रायः सभी देशों में फैले हुए हैं। पर वे कहीं अफ्रीका की भाषा बोलते प्रतीत नहीं होते। वे जिस देश में रहते हैं उसी देश की भाषा बोलते हैं। इसी प्रकार के अन्य कई उदाहरण हैं। आज भी भारत से विदेश में चिरकाल तक रहने वाले लोग भारतीयता छोड़कर विदेशी पहरावे में आ जाते हैं। उनकी-सी बोली बोलने में इतने आदी हो जाते हैं कि उन्हें पहचानना कठिन हो जाता है। इन उदाहरणों से स्पष्ट है भाषा संसर्ग और प्रयत्न द्वारा प्राप्त होती है इससे वह अर्जित सम्पत्ति भी है। इसके साथ-ही-साथ चूँकि हम भाषा शक्ति को प्राप्त अपने पूर्वजों से करते हैं अतः यह परम्परागत सम्पत्ति भी है। भाषण शक्ति को छोड़कर भाषा का कोई भी ऐसा अंग नहीं है जो प्राकृतिक हो अथवा जिसका सम्बन्ध जन्म वंश या जाति से हो। भाषा अर्जित होते हुए भी व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं। एक व्यक्ति उसका अर्जन कर सकता है पर उसे सम्पन्न नहीं कर सकता। भाषा की रचना समाज के द्वारा ही होती है। अर्जन और उत्पादन में अन्तर होता है।

प्रश्न ८—स्पष्ट कीजिए कि भाषा-चक्र से क्या अभिप्राय है ?

भाषा समाज-सापेक्ष वस्तु है। समाज के परिवर्तनशील होने के कारण भाषा में भी परिवर्तन आता है। जैसे-जैसे समाज का विकास होता है, वैसे-वैसे ही भाषा का विकास होता रहता है। जिस प्रकार मानव-जाति का उद्भव और विकास हुआ, उसी प्रकार ही भाषा का उद्भव और विकास माना जाता है। सदा परिवर्तन चक्र में घूमते रहना ही भाषा का विकास कहलाता है। भाषा का कोई अन्तिम स्वरूप नहीं। परिवर्तन और अस्थैर्य ही उसका जीवन है। भाषा की इस परिवर्तित स्थिति पर भाषा-वैज्ञानिकों ने अपने विचार प्रकट किये हैं अर्थात् भाषा कब किस दिशा में किस ओर मुड़ती है। उनके मतानुसार प्रत्येक भाषा

एक वार संयोग से वियोग की ओर जाती है फिर वियोग से संयोग की ओर मुड़ती है। दूसरे शब्दों में कहा जाता है कि भाषा संहिति से व्यवहिति की ओर, फिर व्यवहिति से संहिति की ओर जाती है। इसी को ही भाषा चक्र कहा जाता है। भाषा का यह चक्र सतत रूप से चलता है। भाषा-अपने प्रारम्भिक काल में समस्त, जटिल और स्थूल रहती है; फिर धीरे-धीरे सूक्ष्म, सुकुमार और कोमल हो जाती है। इतिहास और विज्ञान भी एक से अनेक होकर बिखर जाने की साक्षी देते हैं। भाषा-चक्र के विषय में यद्यपि अपवादों की कमी नहीं है क्योंकि शब्दों के इतिहास में कई ऐसे शब्द उपलब्ध होते हैं, जिनकी रचना संयोग और वियोग में स्पष्ट देखी गई है। तथापि उनकी मात्रा अनुपात में इतनी अल्प है कि वह भाषा की सामान्य प्रवृत्ति की द्योतक नहीं मानी जा सकती। उदाहरण स्वरूप यदि कोई पहाड़ी से नीचे को उतरना चाहता है और मार्ग में कभी-कभी कहीं ऊपर की ओर जाकर अपना मार्ग निकालता है तो यह उसके अवतरण का ही सूचक होगा न कि उसके विपरीत कार्य का। इसके अतिरिक्त मानव का यह भी स्वभाव है कि वह कम-से-कम प्रयास में अधिक-से-अधिक लाभ उठाना चाहता है। इसी 'कम प्रयास' के प्रयास में ही वह 'सत्येन्द्र' को 'सतेन्द्र' और फिर सतेन या सति कहने लगता है। मानव की इस प्रवृत्ति के साथ भाषा का घनिष्ठ सम्वन्ध है। भाषा पानी की स्वाभाविक धारा के समान दुर्गम मार्ग की ओर न बढ़कर नीचे की ओर सरलता के साथ अग्रसर होती है।

भारोपीय भाषाएँ इसका ज्वलन्त उदाहरण हैं वे किस प्रकार पहले संहिति-प्रधान थीं, फिर व्यवहिति-प्रधान होती गईं। लिथुआनिअन भाषा आज भी पूर्ण रूप से संहित कही जा सकती है। उसकी तुलना भी वैदिक सँस्कृत से की जा सकती है। उसकी आकृति और रचना कोई तीन हज़ार वर्ष से ऐसी ही अपरिवर्तित और स्थिर मानी जाती है। इसका कारण देश की भौगोलिक स्थिति है। लिथुआनिया की भूमि वड़ी आर्द्र और पंकिल है। दुर्लंघ्य पर्वतों के कारण आक्रमणकारी भी वहाँ नहीं

जाते। उसका समुद्री तट भी व्यापार के काम का नहीं है। और न वहाँ की उपज ही किसी व्यापारी अथवा विजेता के लिये प्रलोभन की वस्तु बन सकती हैं। इस विनिमय और संघर्ष के अभाव ने ही लिथुआनिअन भाषा को ऐसा अक्षुण्ण और अक्षत सा रहने दिया है।

हिब्रू और अरबी भाषाएँ एक ही परिवार की हैं। कोई दो हज़ार वर्ष पूर्व दोनों ही संहित और व्यास-प्रधान हो गई हैं। यहूदी और अरब दोनों ही जातियाँ धर्म-प्रधान और सनातनी होने के कारण अपने प्राचीन धर्म-ग्रन्थों की भाषा को सुरक्षित रख सकी हैं। परन्तु देश-काल के परिवर्तन के कारण दोनों जातियों की भाषाएँ कुछ व्यासोन्मुख हो गई हैं। यहूदी सदा विजित और त्रस्त होकर यहाँ से वहाँ फिरते रहे हैं। इससे उनकी भाषा अधिक संघर्ष के कारण अधिक विकसित और व्यवहित हो गई है। पर अरबी सदा विजेताओं की भाषा रही है। अरब लोग अपने धर्म और अपनी भाषा का बड़ी सावधानी से प्रचार करते रहे हैं। साथ ही में यहूदियों के समान प्रगतिशीलता भी लक्षित नहीं होती। इसी से उनकी अरबी आज भी कुछ संहित भाषा है।

फारसी भाषा का इतिहास भी इसी प्रवृत्ति का इतिहास है। प्राचीन भाषा का प्रथम उल्लेख ईसा से पाँच वर्ष पूर्व के एकीमीनिअन लेखों में मिलता है। उस काल की भाषा वैदिक संस्कृत की नाई संहित थी। फिर सिकन्दर की चढ़ाई की कई शताब्दियों पीछे से सैनियन राजाओं के काल की मध्यकालीन फारसी मिलती है। वह भाषा बहुत कुछ व्यवहित और वियोग-प्रधान मिलती है। उसका अन्तिम रूप पूर्णतः व्यास-प्रधान और व्यवहित हो जाता है। आज तो आधुनिक फ़ारसी भारोपीय परिवार की सबसे अधिक व्यवहित भाषा मानी जाती है। उसका व्याकरण इतना संक्षिप्त है कि कागज की एक शीट पर लिखा जा सकता है।

संस्कृत और अवेस्ता का भी प्राचीन रूप बड़ा जटिल और संयुक्त था। धीरे-धीरे वह सरल और वियुक्त होता गया। संस्कृत के विकसित रूप प्राकृत, अपभ्रंश और वर्तमान देशी भाषाओं में भी व्यास प्रधानता

बढ़ती गई है। इसका कारण भी विदेशियों और विजातियों का संसर्ग ही माना जाता है। अब तो चीनी भाषा तक में भी जिसका कुछ लोग प्रारम्भ ही व्यवहित भाषा मानते थे, कुछ ऐसी खोजें हुई हैं, जिनसे उसके प्राचीन काल में संहित और सविभक्तिक होने का पता लगता है। इस प्रकार प्राचीन इतिहास से भाषाओं के संहित से व्यवहित रूप देखकर पता चलता है कि भाषाओं के विकास की दो ही अवस्थाएँ हैं संहित और व्यवहित। कभी भाषा संहिति से व्यवहिति की ओर जाती है और फिर व्यवहिति से संहिति की ओर। भाषा का यह चक्र तत्कालीन सामाजिक राजनैतिक परिस्थिति तथा उस देश की भौगोलिक स्थिति पर निर्भर है।

प्रश्न ६—बतलाइए कि क्या भाषा परिवर्तनशील है ?

भाषा परिवर्तनशील है। परिवर्तन के चक्र में घूमते रहना ही भाषा का विकास है। विकास या परिवर्तनशीलता का प्रभाव भाषा के प्रत्येक रूप पर पड़ता है। भाषा के प्रतिअवयव, प्रतिध्वनि, प्रतिपद और प्रति वाक्य-विन्यास और अर्थ आदि में परिवर्तन होता रहता है। यदि आज की भाषा की दो सौ-चार सौ साल की भाषा से तुलना करें, तो यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि भाषा प्रत्येक नई पीढ़ी के आने के साथ परिवर्तित होती है वरन् वह परम्परागत वस्तु है। उसकी एक धारा बहती है जो सतत् परिवर्तनशील होने पर भी स्थायी तथा नित्य है। भाषा की एकता का आधार उसकी अविच्छिन्न परम्परा पर ही निर्भर रहता है। यही कारण है कि एक पीढ़ी की भाषा को दूसरी पीढ़ी सीखकर बोलती है। भाषा की एक परम्परा रहने पर भी धीरे-धीरे अस्पष्ट रूप से बदलती रहती है। कालान्तर में वही भाषा इतनी परिवर्तित हो जाती है कि उसके प्राचीन रूप और नवीन रूप में बहुत बड़ा अन्तर पड़ जाता है।

भाषा के इस परिवर्तन को कोई अवनति, कोई उन्नति, कोई विकास और कोई घिसा हुआ रूप कहते हैं। भाषा-विज्ञान के अनुसार भाषा के विकास से यह तात्पर्य नहीं कि भाषा उन्नत या परिमार्जित होती है

वरन् विकास का अर्थ केवल परिवर्तन है उदाहरणार्थ यदि 'सतेन्द्र' का परिवर्तित रूप सतेन्दर या सति हो जाये तो भाषा-वैज्ञानिक उसे अवनति न कहकर विकास ही कहेगा तथा नवजात शब्द शृंखला को उपयोगी सिद्ध करेगा।

भाषा में यह परिवर्तन प्रायः परम्परा और जन-संसर्ग की विभिन्नता के कारण होता है। भाषा अन्य मनुष्यों के संसर्ग से सीखी जाती है और प्रत्येक मनुष्य का संसर्ग भिन्न होता है। काल भेद के कारण भाषा में धीरे-धीरे परिवर्तन होता है और कालान्तर में भाषा अधिक परिवर्तित और विकासोन्मुख दिखाई देती है। भारतीय तत्काल पैदा हुए बच्चे को यदि किसी यूरोपियन महिला के पास रख दिया जाये तो वह बच्चा हिन्दी न सीखकर अंग्रेजी ही सीखेगा।

उदाहरणार्थ आधुनिक हिन्दी गुजराती आदि भाषाओं को प्राचीन साहित्यिक संस्कृत से निकला हुआ समझते हैं। परन्तु वास्तव में कोई सर्वसाधारण की भाषा प्राचीन परिष्कृत भाषा से नहीं निकलती। उसका विकास प्राचीन सर्वसाधारण की भाषा में ही होता है। आजकल की बोलचाल की भाषा की अविच्छिन्नता प्राचीन बोलचाल की भाषा से ही सम्भव है। न कि प्राचीन साहित्यिक भाषा से। अतएव यह मानना चाहिये कि प्राचीन की सर्वसाधारण की भाषा से आजकल की सर्वसाधारण की हिन्दी भाषा निकली है। भाषा की परिवर्तनशीलता भाषा की प्रत्येक अवस्था में पाई जाती है। भारतवर्ष में आर्य जाति की प्राचीन, मध्य और आधुनिक भाषाओं में परस्पर भेद पाया जाता है। प्राचीन भारतीय आदि भाषाओं का स्वरूप संश्लेषणात्मक था। उच्चारण के विषय में

पालि में धर्म के स्थान पर 'धम्म' और मृत्यु के स्थान पर 'मिच्चु' कर दिया। आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं में प्राचीन संश्लेषणात्मकता के स्थान पर विश्लेषणात्मकता देखी जाती है। इस प्रकार अनेक शब्द जो प्राचीन आर्य भाषा में पाये जाते हैं या तो वे मिलते ही नहीं या दूसरे अर्थ में प्रयुक्त होते हैं इससे स्पष्ट होता है कि भाषा नित्य है तथा निरन्तर परिवर्तित होती रहती है। परन्तु उस परिवर्तन की गति सदा एक सी नहीं रहती। क्योंकि जो परिस्थितियाँ उस परिवर्तन के मूल में रहनी हैं वे बदली रहती हैं। इसी कारण से एक ही देश की भाषा के इतिहास में कभी थोड़े काल में ही बहुत परिवर्तन हो जाता है और कभी-कभी चिरकाल तक वह लगभग एक ही रूप स्थिर रहता है। काल भेद के कारण भाषा के रूपों को हम अनेक नाम देते हैं। एक ही गंगा कहीं भागीरथी, कहीं गंगा और कहीं हुगली कहलाने लगती है। एक बार दर्शनकारों से प्रश्न किया गया था कि साल का बच्चा जब दस साल का हो जाता है, तब वह वही होता है या अन्य कोई। तब उन्होंने उत्तर दिया कि न वह, वह कहा जा सकता और न कोई अन्य ही। वह भी है, और अन्य भी। यह भी नहीं, और अन्य भी नहीं। इसी प्रकार भाषा की परिवर्तनशीलता और विकासवाद के विषय में भी कहा जा सकता है। भाषा-वैज्ञानिकों ने भाषा के विकास के मूल कारण को ढूँढ़ने का प्रयास किया है और यह प्रमाणित किया है कि भाषा का विकास दो प्रकार से होता है। वे दो इस प्रकार हैं आभ्यान्तर और बाह्य।

आभ्यान्तर वर्ग में कहीं अन्य कारणों का समाहार होता है। शारीरिक विभिन्नता के कारण भी भाषा भेद हो जाता है प्रत्येक मनुष्य का शारीरिक संस्थान तथा गठन भिन्न होता है। मस्तिष्क की गुरुता और लघुता, शारीरिक अवयवों की विभिन्नता भी भाषा के परिवर्तन का कारण बनती है। उन्हीं कारणों से ध्वनि के उच्चारण में भिन्नता आ जाती है। समाज में प्रत्येक आकार प्रकार के मनुष्य होते हैं पर इस आकार-प्रकार के कारण भाषा में परिवर्तन नहीं होता। जो महाराष्ट्र के ब्राह्मण कुमायूँ

में जाकर दो सौ वर्षों से रहते हैं वे उतनी ही शुद्ध कुमायूँ भाषा बोलेंगे, जितनी वहाँ के रहने वाले । अगर कोई हिन्दुस्तानी परिवार विलायत में जाकर बस जाये तो उसके सभी बच्चे शुद्ध अंग्रेजी ही बोलेंगे । इस प्रकार से भाषा में परिवर्तन हो जायेगा ।

कई बार अधिक प्रयोग करने पर भी शब्द घिसकर छोटे हो जाते हैं । ऐसे भाषा में जो परिवर्तन होते हैं उन्हें स्वयंभू कहा जाता है ।

बोलने वालों के मानसिक स्तर की भिन्नता भी कई बार होती है इससे विचारों में परिवर्तन आता है । विचार-विभिन्नता होने से अभि-व्यञ्जना की शैली में अन्तर पड़ जाता है । भाष भिन्न हो जाती है । जैसे जर्मन के विद्वानों का मत है कि उनकी भाषा में गति और तीव्रता जैसी है वैसी अंग्रेंजी आदि भाषा में नहीं । बंगाली में जैसी व्यञ्जनों की दुरूहता है और जैसा मूर्धन्य व्यञ्जनों का अभाव है वैसा अन्य भाषा में नहीं । बंगाली में तीव्रता और द्रुतगति अधिक है, मद्रासी में खटाखट और व्यञ्जनों के उच्चारण में कठिनता दिखाई देती है । इस तरह भाषा में विभिन्नता जलवायु तथा मानसिक स्तर पर निर्भर है ।

भाषा में परिवर्तन का कारण राजनैतिक और सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थिति भी है । प्रायः देखा जाता है कि जब कोई देश रण-स्थली का केन्द्र बन जाता है और सारा समाज संग्राम में ही जुटा रहता है तो उस समय भाषा में द्रुतगति आ जाती है। यह स्वतन्त्रता और निरंकुशता की लहर युवक समाज के साथ-साथ भाषा के क्षेत्र में भी फैल जाती है । उस समय भाषा में परिवर्तन होता है । यदि सामाजिक और धार्मिक परिस्थिति शान्त होगी, उल्लासमयी होगी, तो भाषा में पवित्रता, सात्विक्भाव तथा लालित्य और माधर्य होगा ।

मुखसुख और प्रयत्नलाघव भी मानव-समाज की सहज प्रवृत्ति है । थोड़े-से-थोड़े शब्दों में अधिक-से-अधिक भावाभिव्यक्ति करना उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है । इस प्रकार दीर्घाकार शब्दों को संक्षिप्त रूप देने की भी प्रवृत्ति भाषा के परिवर्तन में सहायक होती है उदाहरणार्थ

अभिवादन के शब्द व्यक्तियों के नाम, सर्वनाम आदि विकृत होते-होते लघु आकार वाले हो जाते हैं।

सांस्कृतिक विभेद के कारण भाषा में परिवर्तन उत्पन्न होता है। संस्कृति समाज को जीवित रखती है। उसमें संजीवनी शक्ति उत्पन्न करती है। अतः उसका प्रभाव भाषा पर भी पड़ता है। व्यापार, राजनीति, धर्म प्रचार एवं अन्य क्रियाओं के कारण दो संस्कृतियों का सम्मिलन कई बार होता है। भारत में द्राविड़ों और आर्यो का, तुर्कों और मुसलमानों का तथा अंग्रेजों आदि का आगमन हुआ। जिससे स्पष्ट और अस्पष्ट रूप में कई प्रकार का परिवर्तन हुआ।

अतः यह स्पष्ट है कि भाषा की सतत् और शाश्वत् धारा बहते रहने से स्थान और काल भेद से भाषा में परिवर्तन होता रहता है।

प्रश्न १०—भाषा का आकृतिमूलक वर्गीकरण कीजिए।

अथवा

भाषा का रूपात्मक या रचनात्मक वर्गीकरण कीजिए।

साधारणतः विभिन्न भाषाओं में पदरचना और अर्थतत्त्व की दृष्टि से समता देखने को मिलती है। केवल पदरचना और सम्बन्ध तत्त्व की दृष्टि से किया गया वर्गीकरण आकृतिमूलक वर्गीकरण कहलाता है। देश की समीपता या समानता वर्गीकरण का आधार नहीं मानी जा सकती। अर्थतत्त्व के साम्य को देखकर भी उनका वर्गीकरण किया जा सकता है। आकृतिमूलक वर्गीकरण का आधार आकृति की समानता पर होता है।

विकास की दृष्टि से संहित और व्यवहित दो प्रकार की भाषा की अवस्थाएँ मानी जा सकती है। फिर भी वाक्य और शब्दों की आकृति का सम्यक् विवेचन करने के लिए भाषाओं का आकृतिमूलक अथवा रूपात्मक वर्गीकरण अच्छा समझा जाता है। जिस प्रकार शब्दों और वाक्यों को चार प्रकार से विभक्त किया गया है—समास प्रधान, व्यास प्रधान, प्रत्यय प्रधान और विभक्ति प्रधान; उसी प्रकार रचना को ध्यान में

रखकर आकृतिमूलक वर्गीकरण को चार भागों में विभक्त किया जाता है—व्यास प्रधान, समास प्रधान, प्रत्यय प्रधान और विभक्ति प्रधान। इनमें पहले वर्ग को निरवयव और दूसरे तीन वर्गों को सावयव कहते हैं। इसका कारण यह है कि पहले ढंग के अर्थात् व्यास प्रधान वाक्य की रचना से ऐसा प्रतीत होता है कि वाक्य और उसके अवयव शब्दों में अवयव-अवयवीभाव-सम्बन्ध नहीं है, अन्य तीन प्रकार के वाक्यों की रचना में यह सम्बन्ध स्पष्ट और प्रत्यक्ष रहता है। निरवयव के आ कोई भेद नहीं है। निर्योग या व्यास प्रधान उसी के नामान्तर मात्र है। पर सावयव के तीन भेद हैं। जिनमें प्रत्येक के कई उपविभाग किये गये हैं, कोई भाषा पूर्णतः समास-प्रधान होती है और कोई अंशतः समास-प्रधान। प्रत्यय प्रधान भाषाओं में भी कोई पुरः-प्रत्यय प्रधान होती है और पर-प्रत्यय तथा सर्व-प्रत्यय प्रधान होती हैं। कुछ ऐसी भी प्रत्यय-प्रधान भाषाएँ होती हैं जिनमें विभक्ति की प्रधानता, समास की प्रधानता तथा व्यास-प्रधानता का भी पुट रहता है। इसी प्रकार विभक्ति प्रधान भाषाएँ दो प्रकार की होती हैं जैसी अन्तर्मुखी विभक्ति प्रधान तथा वहिर्मुखी विभक्ति प्रधान। इनमें से प्रत्येक के दो उपभेद होते हैं—संहित और व्यवहित।

प्रत्यय प्रधान और विभक्ति प्रधान भाषाओं का एक और सामान्य विभाग किया जाता है—जैसे वहुसंहित और एक संहित। जैसे तुर्की भाषा वहु-संहित है और अरवी एक-संहित। भाषा के आकृतिमूलक वर्गीकरण की रूपरेखा सुविधा की दृष्टि से इस प्रकार है—(देखिये पृष्ठ ५८)

व्यास प्रधान या निरवयव भाषाएँ—व्यास प्रधान भाषाओं में अफ्रीका की सूडान भाषा तथा पूर्वी एशिया की चीनी, तिव्वती, वर्मी, स्यामी अनामी तथा मलय भाषाएँ आती हैं। वाक्य रचना की दृष्टि से इनमें तीन वातों का विचार हो सकता है। किसी भी व्यासोन्मुख भाषा में व्याकरणिक सम्बन्ध कुछ तो शव्दों के स्थान अथवा क्रम से सूचित होता है और कुछ निपातों की सहायता से। अतः सुविधा के लिए कह

सकते हैं कि वाक्य-रचना की दृष्टि से शब्द-क्रम, निपात और स्वर का विचार होता है। सूडानी भाषाओं में निपात का अभाव-सा है। वे भाषाएँ स्थान-प्रधान हैं। चीनी भाषा में निपात की अधिकता है। इसमें स्थान और क्रम भी वाक्य में सम्बन्ध को स्थापित करता है। तिब्बती और बर्मी भाषाएँ भी निपात प्रधान हैं। इनमें वाक्य का अन्वय स्थान पर नहीं, निपातों पर निर्भर रहता है। परन्तु स्वर की विशेषता इन सभी भाषाओं में रहती है। इन भाषाओं में वाक्य विचार तो होता है, पर शब्द विचार अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय-विचार का कोई स्थान नहीं है। क्योंकि भाषा के सभी शब्द स्वतन्त्र होते हैं। व्यास-प्रधान भाषा के वाक्य में स्वतन्त्र और शुद्ध प्रकृति का ही व्यवहार होता है। जैसे हिन्दी में 'मैं रोटी खाता हूँ' के लिए चीनी में मैं, रोटी और खाने के तीन प्रकृति रख देते हैं।

इन भाषाओं में शब्द एकाक्षर होते हैं। इनकी रचना एक अथवा अनेक अक्षर अथवा व्यञ्जनों में होती है। यद्यपि मलय की अनेकाक्षर भाषाएँ भी इसी में ही हैं तथापि इन व्यास प्रधान भाषाओं का एकाक्षर होना ही इनकी विशेष प्रवृत्ति दिखाई देती है।

व्यास प्रधान भाषा में सभी शब्द स्वतन्त्र होते हैं, अतः उनके संघात से ही सभी शब्द पूर्ण होते हैं। वाक्य में उद्देश्य, विधेय आदि का सम्बन्ध स्थान निपात और स्वर के द्वारा होता है। संज्ञा क्रिया या विशेषण आदि सबका रूप एक सा ही होता है। भाषा की इस अवस्था का सबसे अच्छा उदाहरण चीनी भाषा है।

उदाहरणतया **स्थान भेद से अर्थ भेद**—

'न्गो तानी' का अर्थ है 'मैं तुम्हें मारता हूँ।' परन्तु **'नी ता न्गो'** करने से अर्थ होगा 'तुम मुझे मारते हो।'

निपात से भी अर्थ परिवर्तन हो जाता है जैसे—**'वांग पाओ मिन'** का अर्थ होगा "राजा लोगों की रक्षा करता है।" यदि **"वांग पाओ ची मिन"** कर दिया जाये तो अर्थ होगा "राजा द्वारा रक्षित लोग।"

स्वर के आने से भी अर्थ परिवर्तन होता है जैसे "क्वेई कोक" उदात्त स्वर के आने से इसका अर्थ मान्य या विशिष्ट देश हो जायेगा।

समास प्रधान भाषा अथवा बहुसंहित अथवा सावयव भाषा

व्यास प्रधान भाषा में तो वाक्य के सभी शब्द पृथक्-पृथक् रहते हैं परन्तु समास-प्रधान रचना में इसके सर्वथा विपरीत होता है। वाक्य में शब्द एक दूसरे से इतने आबद्ध होते हैं कि वाक्य और शब्द में भेद करना कठिन हो जाता है। व्यास-प्रधान भाषाओं में एक अर्थ कई शब्दों से निकलता है उसके लिए समास-प्रधान भाषाओं में एक ही शब्द पर्याप्त होता है। पूर्णतः समास प्रधान भाषाएँ अत्यन्त जटिल होती हैं। उनमें तो सभी शब्दों का एक ही शब्द से अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

इसमें वाक्य उद्दश्य और विधेय आदि के आधार पर बनाया जाता है। प्रायः ऐसे वाक्य एक समस्त शब्द के समान व्यवहृत होते हैं। कुछ भाषाएँ अंशतः समास प्रधान हैं और कुछ पूर्णतः समास प्रधान भाषाएँ हैं।

उदाहरणतः मेक्सिको भाषा में नेक्तल, नक्तल में 'क' का अर्थ मांस और खाना होता है। अब यदि तीनों का समास कर दिया जाय तो नी-नक्-क' वाक्य बन जाता है जिसका अर्थ है "मैं मांस खाता हूँ।" उत्तरी अमरीका की चेरो भाषा में भी ऐसी ही वाक्य रचना दिखाई पड़ती है। जैसे—पूर्ण वाक्य है "नाधोलिनिन" इसका अर्थ है "हमारे लिए एक नाव लाओ", परन्तु इसके टुकड़े इस प्रकार होंगे, नातन (लाना) अमो-खल (नाव) निन (हमें या हमारे लिये)।

कुछ भाषाएँ अंशतः समास प्रधान होती हैं। वैसे पूर्णतः समास प्रधान भाषाओं में तो एक ही शब्द में कर्त्ता, क्रिया, कर्म और विशेषण आदि सभी का समाहार होता है। पर कुछ भाषाएँ ऐसी हैं जिनमें स्वतन्त्र शब्द भी रहते हैं। तो भी वे समास प्रधान भाषाएँ ही मानी जाती हैं। यूरोप की बास्क भाषा इसका सुन्दर उदाहरण है। उदाहरणतः

"**दर्कक्रिआत्**" का अर्थ "**मैं उसे उसके पास ले जाता हूँ।**" इसी प्रकार '**नकेसु**' का अर्थ होता है "**तू मुझे ले जाता है।**"

प्रत्यय-प्रधान भाषाएँ—प्रत्यय प्रधान भाषाओं में व्याकरणिक सम्बन्ध प्रत्ययों के द्वारा स्थापित होता है। भाव यह है कि व्याकरण के कारक लिंग, वचन, काल आदि के भेद प्रत्ययों द्वारा सूचित किये जाते हैं। ऐसे वाक्यों के शब्द न तो बिल्कुल समस्त ही होते हैं और न बिल्कुल पृथक्-पृथक्। शब्द सभी पृथक्-पृथक् रहते हैं पर कुछ प्रत्यय उनमें लगे रहते हैं, और वे ही उनको दूसरे शब्दों से तथा सम्पूर्ण वाक्य से जोड़ते हैं। यद्यपि ये प्रत्यय सर्वाङ्गपूर्ण नहीं होते; तथापि इनका स्वतन्त्र अस्तित्व स्पष्ट रहता है। ये अपनी प्रकृति में सर्वथा लीन नहीं होते। इनका योग या संचय नियमित और व्यावहारिक होता है। इनका व्याकरण सर्वथा सरल और सीधा होता है। तुर्की भाषा में 'सेव' शब्द का अर्थ 'प्रेम' होता है। परन्तु उसमें आगे प्रत्यय जोड़कर अनेक शब्द बनाए जाते हैं। जैसे सेव (प्यार करना) 'सेव मेक' (प्यार करने के लिये) सेव-मे-मेक (प्यार नहीं करने के लिये)। इसके अतिरिक्त सेव-इश-दिर-दिल-मे-मेक (परस्पर प्यार नहीं किए जाने के लिये) इस प्रकार सहज में ही बहु-संहित रूप निष्पन्न हो जाते हैं। बान्टु परिवार की भाषा प्रत्यय प्रधान भाषाओं का ज्वलन्त उदाहरण है जैसे बान्टु परिवार की काफिर भाषा में एकवचन में "**उमुन्तु बेतु ओमुचिल उयबोन-कल**" का अर्थ होता है—"हमारा आदमी देखने में भला है"। इसी का बहुवचन "**अबंतु बेतु अबचिल-वयबोनकल**" हो जाता है।

तुर्की भाषा में कारक, वचन आदि प्रत्येक के लिये पृथक्-पृथक् प्रत्यय हैं। जैसे 'एव' का अर्थ घर होता है। बहुवचन का प्रत्यय जोड़ देने पर 'ऐव-लेर' 'अनेक घर' अर्थ हो जाता है। यदि मेरे घर का अर्थ करना हो तो '**ऐवलेरिम**' बन जाता है।

प्रत्यय-प्रधान भाषाओं के चार विभाग किए जाते हैं—पुर-प्रत्यय-प्रधान, पर-प्रत्यय-प्रधान, सर्व-प्रत्यय-प्रधान और ईषत्-प्रत्यय-प्रधान।

अफ्रीका की बाँतू परिवार की भाषाएँ पुर-प्रत्यय-प्रधान हैं। यूराल-आल्टिक और द्राविड़ परिवार की तुर्की भाषाएँ पर-प्रत्यय-प्रधान हैं। मलयन और मलिनेशिया परिवार की भाषाएँ सर्व-प्रत्यय-प्रधान हैं। जिन भाषाओं में प्रत्यय प्रधान के साथ व्यास, समास और विभक्ति का पुट भी रहता है वे ईपत्-प्रत्यय-प्रधान होती हैं। जापानी और काकेशी भाषाओं का विभक्ति की ओर झुकाव दिखाई पड़ता है। हाऊसा भाषा का झुकाव व्यास की ओर है और वास्क परिवार का झुकाव समास की ओर है।

विभक्ति-प्रधान-भाषएं—विभक्ति-प्रधान भाषाओं के वाक्यों में शब्द का परस्पर सम्बन्ध (कारक वचन आदि का सम्बन्ध) विभक्तियों द्वारा होता है। विभक्ति प्रधान वाक्य में प्रत्यय सम्बन्ध का ज्ञान कराते हैं पर वे अपना अस्तित्व खो बैठते हैं। ऐसी विभक्ति प्रधान वाक्य रचना वाली प्रधान भाषा संस्कृत है। अरबी में भी ऐसे वाक्य प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। विभक्ति प्रधान रचना में प्रत्यय और प्रकृति का एक दूसरे में पूर्णतया समाहार हो जाता है। प्रत्यय का प्रत्यक्ष अस्तित्व दिखाई नहीं देता। विभक्ति प्रधान भाषा में विविधता और जटिलता अधिक है क्योंकि कई उदाहरण अपवाद स्वरूप मिलते हैं।

विभक्तियों का प्रयोग दो प्रकार का है। अन्तर्मुखी विभक्ति तथा बहिर्मुखी विभक्ति। सेमेटिक और हेमेटिक परिवार की भाषाएँ अन्तर्मुखी विभक्ति प्रधान हैं। तथा भारोपीय परिवार की बहिर्मुखी विभक्ति प्रधान। अन्तर्मुखी विभक्ति प्रधान भाषाओं में विभक्ति पूर्व में, अन्त में, और पीछे होती तो है परन्तु व्याकरणिक सम्बन्ध भीतर होने वाले स्वर-परिवर्तन में दिखाई देता है। सेमेटिक और हेमेटिक परिवार में विभक्तियों के यही रूप देखने के लिये मिलते हैं। सुप्रसिद्ध भारोपीय परिवार में विभक्तियाँ बहिर्मुखी होती हैं और न ही व्याकरणिक सम्बन्ध ही अन्तरंग स्वर-भेद द्वारा प्रकट होता है। पर संहित से व्यवहित की प्रवृत्ति इनमें भी स्पस्ट दिखाई पड़ती है। संस्कृत लैटिन ग्रीक आदि विभक्ति-प्रधान भाषाओं के उदाहरण अनेकों मिलते हैं।

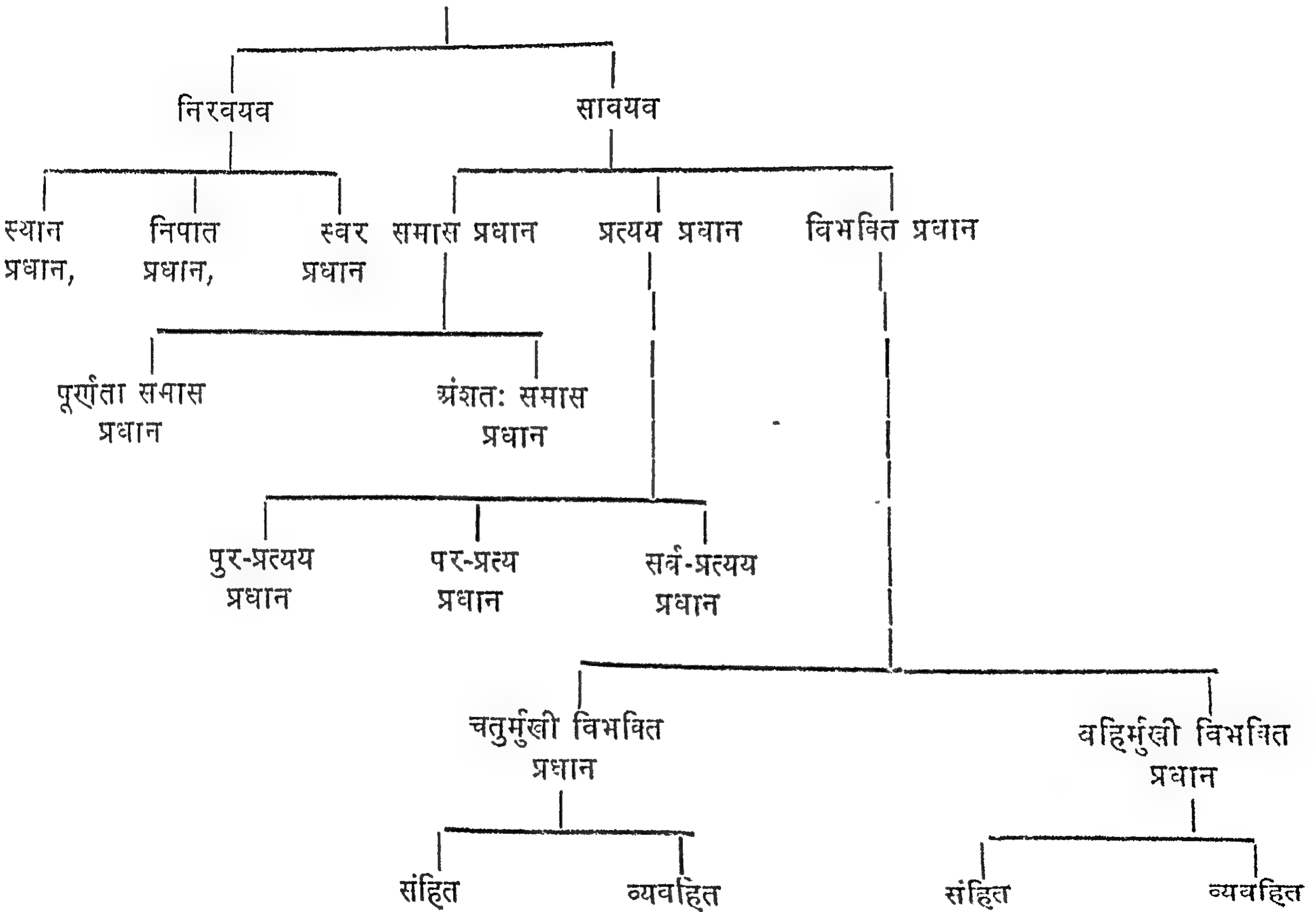
व्यावहारिक दृष्टि से यह वर्गीकरण उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। भले ही भाषाओं की रचना और शैली समझने में इससे सहायता मिलती है।

परस्पर सम्बन्ध न रखनेवाली अनेक भाषाओं को एक ही वर्ग में रखना अध्ययन की दृष्टि से सुविधाजनक नहीं। विभक्ति प्रधान वर्ग को छोड़कर अन्य सभी वर्गों में असम्बद्ध भाषाएँ संगृहीत हैं।

यह वर्गीकरण बड़ा स्थूल है। एक ही भाषा में व्यास प्रधान, समास प्रधान और विभक्ति के लक्षण मिलते हैं। अतः भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यह चार प्रकार की वाक्य-रचनाएँ किसी भी विकास की सूचक नहीं।

विभक्ति युक्त भाषाओं में भी विश्लेषणात्मकता संश्लेषणात्मकता का भेद किया गया है। वह भी आपेक्षिक ही है। यद्यपि इन भाषाओं का झुकाव विश्लेषणात्मकता की ओर है, तो भी कोई ऐसी आधुनिक भाषा नहीं पाई जाती है जो सर्वांश में केवल संश्लेषणात्मक या विश्लेषणात्मक कही जा सके।

अतः इस प्रकार के भाषा के आकृतिमूलक वर्गीकरण का चार्ट अगले पृष्ठ पर देखिए।


भाषा
निरवयव
सावयव
स्थान प्रधान,
निपात प्रधान,
स्वर प्रधान
समास प्रधान
प्रत्यय प्रधान
विभक्ति प्रधान
पूर्णता समास प्रधान
अंशतः समास प्रधान
पुर-प्रत्यय प्रधान
पर-प्रत्य प्रधान
सर्व-प्रत्यय प्रधान
चतुर्मुखी विभक्ति प्रधान
बहिर्मुखी विभक्ति प्रधान
संहित
व्यवहित
संहित
व्यवहित

प्रश्न ११—आर्यों के मूल निवास-स्थान के सम्बन्ध में प्रकाश डालिए।

वर्तमान और प्राचीन आर्य-भाषाओं की वैज्ञानिक तुलना के आधार पर ही आर्य-भाषा की पुनः रचना हुई। जब उस समय वह भाषा सुसंगठित रूप में थी, तब आर्य भाषा-भाषी अवश्य ही किसी स्थान पर रहते होंगे। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि वह स्थान कौन सा था। इस प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर अभी तक भी सर्वमान्य रूप से प्राप्त नहीं हुआ। इस प्रश्न का हल करने के लिए अनेक विद्वानों ने विविध प्रकार के वाद उपस्थित किए हैं। यदि खोज की जाए, तो भारतीय आर्य ग्रन्थों में इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता, और यह प्रकट नहीं होता कि आर्यों का मूल-निवास-स्थान कौनसा था। भारतीय आर्यों की कल्पना में अपने देश के अतिरिक्त स्वर्ग, पाताल, देवलोक आदि का अस्तित्व अवश्य था। देवताओं का निवास मेरू पर्वत पर था वहाँ प्रकाश, सुख, आनन्द, और उल्लास का अस्तित्व था। अन्धकार और दुःख का नितान्त अभाव था। अतः भारतीय विचार-धारा के अनुसार आर्यों के आदि देश का प्रतिबिम्ब सम्भवतः उनकी आदि सृष्टि की कल्पना में ही छिपा हुआ है।

कहा जाता है कि मनुष्य का प्रथम सृजन तिब्बत में हुआ। मेरू पर्वत के विषय में तो कुछ नहीं कहा जा सकता, परन्तु तिब्बत की भौगोलिक स्थिति का ज्ञान तो सभी को है। वैदिक संहिताओं तथा ऋचाओं में कई स्थानों पर सप्तसिन्धु का उल्लेख मिलता है। इसी आधार पर श्री अविनाशचन्द्र तथा सम्पूर्णानन्द ने भारत के ही उत्तरी भाग को आर्यों का आदि देश माना है। लोकमान्य गंगाधर तिलक ने कुछ ऋचाओं के भारी-भारी दिन और रात तथा उषाकाल के वर्णन के आधार पर उत्तरी ध्रुव प्रदेश को आर्यों का देश ठहराया है।

आर्य भाषा संस्कृत सभी अन्य भाषाओं की जननी है। जर्मनी, लैटिन कैल्टी, आर्मीनी, अल्बेनी, तोखारी आदि सभी भाषाओं का स्रोत आर्य भाषा ही है। अतः आदि आर्य भाषाभाषियों पर विचार करते हुए इन

सभी बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। इसके विषय में भारतीय और पाश्चात्य सभी विद्वानों ने अपने विचार प्रकट किए हैं।

भारतीय मत

आर्यों ने ऋग्वेद में अपने मूल-निवास-स्थान के विषय में उल्लेख किया है या नहीं। इसका उत्तर 'नहीं' के रूप में ही मिलता है।

प्राचीन आर्य विद्वानों के अनुसार आर्यों का मूल-निवास-स्थान तिब्बत है। तिलक ने ऋग्वेद के अध्ययन से कुछ श्लोकों के आधार पर आर्यों का मूल-निवास-स्थान उत्तरी-ध्रुव कहा है।

अविनाशचन्द्र ने तिलक के मत का खण्डन करके अपनी पुस्तक 'ऋग्वैदिक इण्डिका' में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ये लोग सरस्वती नदी के किसी तट पर रहा करते थे। यदि यह बात सम्भव नहीं तो वे सरस्वती नदी के उद्गम स्थान पर रहते थे। सम्भवतः ब्रह्मा-वर्त्त की महिमा का ऋग्वेद में वर्णन इसीलिए मिलता है।

अन्य भारतीय विद्वान आर्य लोगों का मूल निवास स्थान मध्य एशिया के आस-पास बताते हैं।

उनका कहना है कि मध्य-एशिया के पश्चिम की ओर कुछ अनार्य जातियाँ रहती थीं। जब उन पर कुछ आर्यों का प्रभाव पड़ा तो अनार्य जातियाँ पश्चिम की ओर भाग गईं और यूरोपीय जातियों को आत्मसात् करती हुई आगे बढ़ीं और यूरोपीय जातियों पर भी आर्यों का प्रभाव पड़ा, इससे प्रकट होता है कि आर्य लोग दो बार भारतवर्ष में आए। परन्तु सम्भावना ऐसी है कि वे कई बार भारतवर्ष में आये। वर्तमान भारतीय आर्य भाषाओं से पता चलता है तथा ऋग्वेद और बाद के संस्कृत साहित्य में भी इसके प्रभाव मिलते हैं। दो बार ये अवश्य आए परन्तु वे एक-दूसरे से बहुत समय के अनन्तर आये होंगे। तभी इनकी भाषा में कुछ भेद हो गया होगा। पहली बार आने वाले आर्य कदाचित् काबुल की घाटी से आये थे किन्तु नवागत आर्य किस मार्ग से आये थे, इसके

विषय में निश्चित् रूप से कुछ भी कहा नहीं जा सकता। सम्भावना ऐसी ही है कि वे काबुल की घाटी से न आकर गिलगित और चितराल की पहाड़ियों से होते हुए दक्षिण भारत की ओर सीधे लौटे थे। पंजाब में आने पर इन नवागत आर्यों को पूर्वगत आर्यों का सामना करना पड़ा जो पर्याप्त समय तक अलग रहने के कारण भिन्न-भाषा-भाषी हो गये थे। नवागत आर्यों ने उन्हें पछाड़कर कदाचित् पूर्वी पंजाब में सरस्वती नदी के तट पर बस गये और पूर्वागत आर्य पछाड़ खाकर इनके चारों ओर जाकर बसे। धीरे-धीरे ये नवागत आर्य फैल गये। संस्कृत साहित्य में एक मध्य देश शब्द आता है। इस शब्द का व्यवहार आरम्भ में कुरु पांचाल और उसके उत्तर के हिमालय प्रदेश के लिए हुआ है। इन संस्कृत ग्रंथों के आधार पर ही हिमालय और विंध्य के बीच तथा सरस्वती नदी के लुप्त होने के स्थान से प्रयाग तक का भूमि-भाग मध्य देश कहलाने लगा था। कदाचित यह बस्ती नवागत आर्यों की ही थी। ये आर्य स्वयं को पूर्वागत आर्यों से श्रेष्ठ समझते थे।

आर्यों के मूल-निवास-स्थान के विषय में पाश्चात्य विद्वानों ने भी अपने मत दिये हैं—जो इस प्रकार हैं—

आज से प्रायः सौ साल पहले जर्मनी विद्वान् मैक्समूलर ने आर्यों का मूल-निवास-स्थान मध्य-एशिया बताया परंतु उनकी इस धारणा के विरोध में तुरन्त ही वाद उपस्थित हुए। जिनके अनुसार एशिया में ही नहीं; अपितु यूरोप में ही कहीं उनका मूल-निवास-स्थान माना जाने लगा। यूरोप के पूर्वी हिस्से का कोई-प्रदेश, हंगरी या रूस के बीच का प्रदेश, पूर्वी या दक्षिणी रूस, उत्तरी जर्मनी, स्कैंडीनेविया, पोलैंड या लिथुएनिया आर्यों का आदि देश था, यह बहुत दिनों से चला आ रहा है।

स्कैंडीनेविया के एक विद्वान् डा० लैथिन ने आर्यों का मूल-निवास-स्थान स्कैंडीनेविया के आस-पास कहा है।

कतिपय विद्वान् बाल्टिक सागर के आस-पास आर्यों का निवास-स्थान बताते हैं।

कुछ लोगों ने जर्मनी के विभिन्न भागों में इनका निवास-स्थान बताया है।

इतिहास में आर्य जाति का आविर्भाव मिश्री, सुमेरी, असीरी और चीनी की अपेक्षा अर्वाचीन है। अनुमान है कि आदिम आर्यों का प्रथम सम्पर्क उत्तरी मैसोपोटेमिया की तत्कालीन सभ्य जातियों से ईसा से पूर्व २२ वीं या २३ वीं सदी में हुआ। ईसा पूर्व २००० वर्ष के आस-पास उनकी स्थिति मैसोपोटैमिया में पाई जाती है।

ईरान और टर्की में २५०० ईसवी पूर्व के एक और लेख में इन्द्र, वरुण आदि देवताओं के नाम प्राप्त होते हैं जिनके अनुसार आर्यों का निवास-स्थान काले सागर के आस-पास माना गया।

प्राय: १४०० ई० पूर्व के वोगाज के कई लेखों में आर्यों के प्रथम आने का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। उसमें मितानी जाति के शासक वर्ग में इन्द्र, ऊरुवन, अरुण आदि देवताओं का नाम भी मिलता है इससे स्पष्ट है कि एशिया माइनर में उस समय आर्य जाति की कोई शाखा उपस्थित थी। इसीलिए विद्वान् सर्जी ने आर्यों के मूल-निवास-स्थान एशिया माइनर पर बहुत बल दिया है।

आदिम आर्य भाषाओं के शब्दों की सुमेरी आदि अन्य भाषाओं की तुलना और परस्पर आदान-प्रदान से यही निष्कर्ष निकलता है कि हमें आदि देश की खोज यूरोप में न करके एशिया में कहीं करनी चाहिये। इस सम्बन्ध में सुनीतिकुमार चैटर्जी ने ब्रेडैंस्टाइन की बात को श्रेय दिया है। ब्रेडैंस्टाइन का मत है कि युराल पर्वत का दक्षिणी प्रदेश ही आदिम आर्यों का मूल-निवास स्थान था। ब्रेडैंस्टाइन ने अपने मत की पुष्टि करते हुए कई युक्तियाँ भी दी हैं।

डा० श्रेडर ने, जो कि एशिया में स्लौविक भाषाओं का विद्वान् हो चुका है, आर्यों का मूल-निवास स्थान वोल्गा नदी का मुहाना माना है।

डा० सर देसाई ने वाल्टिक झील के आस-पास सप्तसिन्धु ही आर्यों का मूल निवास स्थान स्वीकार किया।

जो कुछ भी हो, आर्यों के मूल निवास-स्थान के विषय में निश्चय-पूर्वक अभी तक कुछ नहीं कहा जा सकता। संसार के विद्वानों का, जिनमें यूरोपीय विद्वानों का आधिक्य है, आजकल यही मत है कि आर्यों का आदिम स्थान पूर्व यूरोप में बाल्टिक सागर के निकट कहीं पर था। इस स्थान से ईरान और भारत की ओर आने के मार्ग के सम्बन्ध में दो मत हैं। पुराने मत के अनुसार यह मार्ग कैस्पियन सागर के उत्तर से मध्य एशिया में होकर माना जाता था। थोड़े दिन हुए ईरान और टर्की में प्राचीन आर्यों के देवताओं के नामों के लेख मिले हैं। यह लेख लगभग १४०० ई० पू० का माना जाता है। इसी कारण एक नवीन मत यह हो गया कि भारत ईरानी बोलने वालों का एक समूह काले समुद्र के पश्चिम से होकर आया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। इसी समूह में से कुछ लोग ईरान में बसते हुए आगे मध्य एशिया तथा भारत की ओर बढ़ सकते हैं। मध्य एशिया की प्रशाखा के लोग हिन्दूकुश की घाटियों में होकर बाद को दरदिस्तान तथा काश्मीर में कदाचित जा बसे हों और यहीं वर्तमान पैशाची या दरद भाषा के बोलने वालों के पूर्वज रहे होंगे।

भाषा शास्त्र के नियमों के अनुसार हार्नली साहब भाषा के सूक्ष्म भेदों पर विचार करके इसी मत पर पहुँचे हैं। ग्रियर्सन महोदय भी कुछ कुछ इसी मत की पुष्टि करते हैं।

इस प्रकार भारतीय तथा यूरोपीय भाषा-विज्ञान-वेत्ता या इतिहास-वेत्ता अभी तक आर्यों के मूल-निवास-स्थान के सम्बन्ध में किसी निश्चित् मत पर नहीं पहुँचे हैं। आधुनिक अधिकाँश विद्वान् एशिया माइनर को ही आर्यों की उत्पत्ति का स्थान मानते हैं। वास्तविक सत्य क्या है यह तो भविष्य के शोध कार्य के निर्णय पर आधृत है।

प्रश्न १२—आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का वर्गीकरण कीजिए।

भारोपीय परिवार की आर्य शाखा अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण शाखा है। सर जार्ज ग्रियर्सन ने भाषा तत्त्व के आधार पर भिन्न-भिन्न

भाषाओं के उच्चारण तथा व्याकरण का विचार करते हुए आधुनिक आर्य भाषाओं का वर्गीकरण किया और भाषाओं को तीन उपशाखाओं में विभक्त कर दिया। इनके वर्गीकरण में ऐतिहासिक व्याख्या है। इन तीन उपशाखाओं को बहिरंग, अन्तरंग और मध्यवर्ती उपशाखा कहा गया।

ग्रियर्सन का यह वर्गीकरण ऐतिहासिक आधार पर है। इन्होंने आर्य भाषाओं के विषय में कहा है कि आर्य लोग भारतवर्ष में दो बार आये। पूर्वागत आर्य भारतवर्ष में सिन्धनद आदि की घाटियों में आये और भारत के मध्य देश में आकर बस गये। नवागत आर्यों ने पूर्वागत आर्यों को आकर पराजित किया। परिणामस्वरूप पूर्वागत आर्य हिमालय, सिंध, पंजाब, गुजरात, राजस्थान आदि में जाकर बस गये। जिससे मध्यदेश के सीमावर्ती सभी प्रदेश आबाद हो गये। नवागत आर्यों ने मध्यप्रदेश पर अपना अधिकार किया जो कि प्रत्येक दृष्टिकोण से उन्नत प्रदेश था। नवागत आर्यों को अपनी भाषा पर गर्व था जिससे शौरसेनी और अपभ्रंश वहाँ फूलने-फलने लगी। गौरव की बात यह है कि मध्यदेश की उन्नत भाषा सदैव अपने काल में भारत की राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन होती रही है। इस प्रकार मध्यप्रदेशीय भाषाओं का नाम अन्तरंग और सीमावर्ती प्रदेशों की भाषा का नाम बहिरंग भाषा रखा गया।

इस प्रकार बहिरंग और अन्तरंग समुदाय की भाषाओं में एक महत्वपूर्ण अन्तर यह स्पष्ट होता है। वह यह है कि बहिरंग भाषाएँ यदि संयोगावस्था में हैं तो अन्तरंग भाषाएँ वियोगावस्था में। पहली के कारक रूप प्रायः प्रत्यय लगाकर बनते हैं तो दूसरी के कारक रूपों के लिये सहायक शब्दों की आवश्यकता होती है। उदाहरण स्वरूप हिन्दी में कारक रूप बनाने के लिए 'घोड़ा' संज्ञा के साथ 'का' लगाकर कारक रूप बनता है परन्तु बंगला आदि में घोड़े का के स्थान पर 'घोड़ार' या 'घोड़े रे' होता है।

उच्चारण तथा व्याकरणिक सम्बन्धी अन्तर को दृष्टि में रखकर डा० ग्रियर्सन ने भारतीय आर्य भाषाओं को तीन भागों में वर्गीकृत किया।

उनका वर्गीकरण इस प्रकार है—

(क) बहिरंग उपशाखा—

१. पश्चिमोत्तर वर्ग—लहंदा, सिन्धी।

२. दक्षिणी वर्ग—मराठी।

३. पूर्वीवर्ग—आसामी, बंगाली, उड़िया, बिहारी।

(ख) मध्यवर्ती उपशाखा—

४. मध्यवर्ती वर्ग—पूर्वी हिन्दी।

(ग) अन्तरंग उपशाखा—

५. केन्द्र वर्ग—पश्चिमी हिन्दी, पंजाबी, गुजराती, भीली, खानदेशी, राजस्थानी।

६. पहाड़ी वर्ग—पूर्वी पहाड़ी, केन्द्री पहाड़ी, पश्चिमी पहाड़ी।

सुनीतिकुमार चैटर्जी ने ग्रियर्सन के इस वर्गीकरण को देखकर निम्नलिखित आपत्तियाँ उपस्थित कीं—

१. अन्तरंग और बहिरंग भाषाओं में रचनात्मक, व्याकरणिक एवं ध्वन्यात्मक भेद हैं।

२. सुदूरपूर्व और सुदूर पश्चिम की भाषाओं को एक ही वर्ग में नहीं रखा जा सकता।

३. बहिरंग भाषाएँ संयोगावस्था में और अन्तरंग भाषाएँ वियोगावस्था में मानी जाती हैं।

४. बहिरंग मानी गई पश्चिमी पंजाबी में भी पश्चिमी हिन्दी के समान सहायक शब्दों का प्रयोग मिलता है। जैसे "घोड़े दो" (घोड़े का) घोड़े नु (घोड़े को)। इसे बँगाली घोड़ार बिहारी घोड़ाक से मिलाया जा सकता है। इस विवेचन से अन्तरंग और बहिरंग प्रयोजक कारकों का दौर्बल्य स्पष्ट हो जाता है।

अन्तरंग और बहिरंग भाषाओं में अत्यन्त महत्वपूर्ण तार्किक अन्तर है। इसलिए ग्रियर्सन और चैटर्जी में मतभेद है। विचार करने की बात

(क) उदीच्य वर्ग

१. सिन्धी, २. लंहदा, ३. पंजाबी।

(ख) प्रतीच्य वर्ग

१. गुजराती, २. राजस्थानी।

(ग) मध्यदेशीय वर्ग

१. पश्चिमी हिन्दी।

(घ) प्राच्य वर्ग

१. पूर्वी हिन्दी, २. विहारी, ३. उड़िया, ४. वंगाली, ५. आसामी।

(ङ) दक्षिणात्य वर्ग

१. मराठी।

पहाड़ी बोलियों को डा० चैटर्जी ने भी राजस्थानी बोलियों का रूपान्तर माना है। अतः उनको निश्चित रूप से किसी अलग वर्ग में नहीं रखा जा सकता।

चैटर्जी ने ग्रियर्सन के मत की ठीक ही आलोचना की। ग्रियर्सन ने कहा था कि बहिरंग व्रज आदि भाषाओं में शब्दांश इ, ए, उ का लोप हो जाता है परन्तु अन्तरंग खड़ी बोली आदि भाषाओं में भी शब्दांश के ए, उ का लोप कभी-कभी नहीं हुआ।

जैसे कछु = कुछ, देखि = देखी।

२. ग्रियर्सन ने कहा था कि बहिरंग भाषाओं में 'इ' का 'ए' और 'उ' का 'ओ' हो जाता है परन्तु यह बात अन्तरंग भाषाओं में भी मिलती है।

दिखाना = देखना

सुखाना = सोखना

ग्रियर्सन ने बहिरंग भाषाओ में 'इ' तथा 'उ' का पारस्परिक परिवर्तन माना है। परन्तु ऐसा अन्तरंग भाषाओं में भी हो जाता है।

जैसे बिन्दु का बूंद।

बहिरंग भाषाओं की तरह कतिपय अन्तरंग भाषाओं में भी महाप्राण और अल्पप्राण से आपस में परिवर्तन होता रहता है। इसी प्रकार अन्तरंग और बहिरंग दोनों साम्य हैं। परन्तु ग्रियर्सन ने इन्हीं को वैषम्य कहा है।

इन रचनात्मक साम्यों के अतिरिक्त व्याकरणिक साम्य भी हैं।

वहिरंग की भाँति अन्तरंग में भी स्त्रीलिंग बनाने के लिये 'इ' प्रत्यय तथा विशेषण बनाने के लिये 'ली' प्रत्यय लगाना पड़ता है जैसे घोड़ा = घोड़ी, शर्म = शर्मीली। अन्तरंग में प्रत्यय शब्द लगते हैं जैसे मैं = मैंने।

इन सब बातों के अतिरिक्त यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि पश्चिमी तथा पूर्वी बहिरंग में भी भेद है और पूर्वी तथा पश्चिमी अंतरंग में भी भेद है। साथ ही यह भी ध्यान देना चाहिए कि पश्चिमी बहिरंग और पश्चिमी अन्तरंग में भी समानता है और पूर्वी बहिरंग और पूर्वी अन्तरंग में भी समानता है। सम्भवतः इन्हीं सब कारणों से ही डा० चैटर्जी ने आर्य भाषाओं का इस प्रकार वर्गीकरण किया है।

सामान्यतः चैटर्जी का वर्गीकरण सरल है और स्वाभाविक भी। प्राचीन काल से आज तक मध्यदेश की भाषा राजभाषा होती आई है। इस दृष्टि से पश्चिमी हिन्दी को केन्द्र मानकर उसके चारों ओर की चार भाषा वर्गों की परीक्षा करना सुविधाजनक होता है। फिर भी यहाँ यह देखना चाहिये कि पश्चिमी हिन्दी के पश्चिम की ओर पड़ने वाली भाषाओं के उत्तरीय और पश्चिमीय और पूर्वी भाषाओं के दक्षिणी और पूर्वी भेद

किये गये हैं। पूर्वी हिन्दी पश्चिमी हिन्दी की अपेक्षा पूर्व की ओर से वहिरंग भाषा से अधिक समृद्ध है। स्वयं ग्रियर्सन ने अपने लेखों में हिन्दी को ही मध्यदेशीय मानकर आर्य भाषाओं का वर्गीकरण इस प्रकार किया है।

१. मध्यदेशीय भाषा

हिन्दी

२. अन्तवर्त्ती

क—मध्यदेशीय भाषाओं से अधिक घनिष्ठता रखनेवाली—पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, पहाड़ी वर्ग खुस्कुरा।

ख—वहिरंग भाषाओं से अधिक सम्बद्ध।

पूर्वी हिन्दी

३. वहिरंग भाषाएँ

अ—पश्चिमोत्तर वर्ग—लंहदा, सिन्धी।

आ—दक्षिणी वर्ग—मराठी।

इ—पूर्वी वर्ग—विहारी, उड़िया, बंगाली, आसामी।

इस प्रकार भीली, गुजराती और खानदेशी राजस्थानी में अन्तर्भूत हो जाती हैं।

डा० ग्रियर्सन के इस वर्गीकरण को देखकर सुनीतिकुमार चैटर्जी ने एक और वर्गीकरण प्रस्तुत किया जो इस प्रकार है।

१. उत्तरीय पहाड़ी श्रेणी

१. पूर्वी, पहाड़ी या नेपाली।

२. मध्य पहाड़ी (गढ़वाली या कुमाऊं)।

३. पश्चिमी पहाड़ी।

२. पश्चिमोत्तरी पहाड़ी

१. लंहदा या पश्चिमी हिन्दी।

२. सिन्धी।

३. मध्यदेशीय श्रेणी

१. हिन्दी, गोष्टी या पश्चिमी हिन्दी

(खड़ी बोली, ब्रज, उर्दू, बाँगरू, बुन्देली, कन्नौजी)

२. पंजाबी या पूर्वी पंजाबी।

३. राजस्थानी और गुजराती।

४. पूर्व मध्य श्रेणी

१. कौशली या पूर्वी हिन्दी।

(अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी)

५. पूर्वी श्रेणी

आसामी, बंगला, उड़िया और बिहारी।

(मैथिली, मगही और भोजपुरी)

६. दक्षिणी श्रेणी

इसके अन्तर्गत कोंकणी और हलवी।

आदर्श वर्गीकरण यही है कि बिहारी को पूर्व मध्य श्रेणी के अन्तर्गत रखा जाये।

सुनीतिकुमार चैटर्जी के इस वर्गीकरण का आधार लेकर डा० धीरेन्द्र वर्मा ने आर्य भाषाओं का वर्गीकरण निम्न रीति से किया—

क—उदीच्य वर्ग—सिन्धी, लंहदा, पंजाबी।

ख—प्राच्य वर्ग—गुजराती।

ग—मध्यदेशीय वर्ग—राजस्थानी, पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी, बिहारी।

घ—प्रत्तीच्य वर्ग—उड़िया, बंगाली, आसामी।

ङ—दाक्षिणात्य वर्ग—मराठी।

इन वर्गीकरणों को देखकर सीताराम चतुर्वेदी तथा राममूर्ति मलहोत्रा ने भी अपना वर्गीकरण प्रस्तुत किया परन्तु इन वर्गीकरणों में विशेष रूप से मौलिकता नहीं, आधार लेकर ही बनाये गये हैं। सीताराम चतुर्वेदी का वर्गीकरण यद्यपि मौलिक नहीं तथापि सरल और सुविधाजनक है। राममूर्ति मलहोत्रा का वर्गीकरण भी सरल है।

इन वर्गीकरणों से भारतीय आर्य भाषाओं के विषय में जानकारी प्राप्त करना काफी सरल हो गया है। प्रत्येक भाषा वैज्ञानिक आर्य भाषाओं की भाषा वैज्ञानिक विशेषता को जानने के लिए इन्हीं वर्गीकरणों का आधार लेता है।

प्रश्न १३—भाषाओं का पारिवारिक वर्गीकरण कीजिए।

संसार की भाषाओं का वर्गीकरण दो दृष्टियों से किया जाता है। पहला उनकी आकृति पर रचना या समान रूपता की दृष्टि से, दूसरा उनकी उत्पत्ति या परिवार की एकता की दृष्टि से। इनमें पहले प्रकार के वर्गीकरण को आकृतिमूलक या रूपात्मक वर्गीकरण कहते हैं और दूसरे प्रकार के वर्गीकरण को पारिवारिक वर्गीकरण कहते हैं। विभिन्न भाषाओं को साधारण दृष्टि से देखने पर दो प्रकार की समता प्रायः देखने में मिलती है। पहली सम्बन्धतत्त्व की और दूसरी अर्थतत्त्व की। उदाहरण के लिए करना, सोना, खाना, पीना आदि शब्दों में शब्द की रचना 'न' प्रत्यय लग कर ही हुई है। इनमें समानता सम्बन्धतत्त्व की है। दूसरी ओर "करता", करेगी, 'करना', 'करा' आदि में अर्थतत्त्व की समानता तो है परन्तु रचना की समानता नहीं है। निष्कर्ष यह निकला कि केवल पद रचना या सम्बन्धतत्त्व की समानता पर आवृत भाषाओं का वर्गीकरण आकृतिमूलक वर्गीकरण कहलाता है तथा अर्थतत्त्व की समानता पर आधृत वर्गीकरण पारिवारिक या ऐतिहासिक वर्गीकरण कहलाता है। आकृतिमूलक वर्गीकरण भाषा-विज्ञान की दृष्टि से उतना महत्वपूर्ण नहीं, जितना कि पारिवारिक वर्गीकरण। पारिवारिक दृष्टि से भाषा-वैज्ञानिकों ने संसार की सभी भाषाओं को कुलों, उपकुलों, शाखाओं, उपशाखाओं तथा समुदायों में विभक्त किया है। उनके अनुसार तो भिन्न-भिन्न परिवारों की भाषाएँ किसी एक मूल भाषा से ही उत्पन्न हुई हैं। अतः वर्गीकरण करने के लिए सुविधा की दृष्टि से भूगोल को आधार मानकर संसार की भाषाओं को चार खण्डों में विभक्त किया है। प्रत्येक खण्ड की भाषा दूसरे खण्ड की भाषा से प्रभावित है। अतः

सी दृष्टिकरण को लेकर अफ्रीका खण्ड, यूरेशिया खण्ड, प्रशान्त महासागर खण्ड, तथा अमेरीका खण्ड में विभक्त किया है।

यद्यपि इन भूखण्डों की भाषाओं में कम ही सामान्य लक्षण देखने को मिलते हैं; फिर भी इन सब में एक साधारण विशेषता पाई जाती है। वह यह है, कि वे सब भाषाएँ रचना में समास-प्रधान हैं। किसी भाषा में केवल वाक्य-शब्द पाये जाते हैं और किसी-किसी में शब्द-वाक्य तथा शब्द का कहीं-कहीं स्वतन्त्र प्रयोग भी है। यद्यपि इन सब भाषाओं का यथोचित अध्ययन और वर्गीकरण भाषा-वैज्ञानिकों के द्वारा अभी तक नहीं हो सका तो भी स्थूल वर्गीकरण किया ही गया है।

अफ्रीका खण्ड—अफ्रीका खण्ड में मुख्यतः पाँच भाषा परिवार हैं—बुशमैन, बान्टु, सूडान, हैमैटिक, सैमेटिक। अफ्रीका के इन परिवारों की भाषाओं का अध्ययन बड़ा मनोरञ्जक तथा महत्त्वपूर्ण है। इनका अध्ययन करने से विदेश की अन्य भाषाओं के विकास और प्रभाव का ज्ञान होता है।

अफ्रीका खण्ड की बुशमैन भाषा सब से प्राचीन और जंगली भाषा मानी जाती है। उस भाषा का व्याकरण अपने ही ढंग का है। यहाँ की व्यञ्जन ध्वनियाँ कुछ निराली ही हैं। सजीव और निर्जीव के द्वारा ही लिंग भेद का पता चलता है। बहुवचन बनाने के लिए इस भाषा में कोई पचास-साठ विधियाँ प्रचलित हैं। इस परिवार में विचित्र प्रकार की ध्वनियाँ प्रचलित हैं। कभी-कभी जापानी आदि भाषाओं की भाँति संज्ञा एकवचन की पुनरुक्ति करके भी बहुवचन बना लिया जाता है।

बान्तु परिवार की भाषाएँ दक्षिण अफ्रीका के अधिकाँश भाग में पाई जाती हैं। ये भाषाएँ पूर्व प्रत्यय प्रधान होती हैं। इनमें व्याकरणिक लिंग भेद का अभाव रहता है। उपसर्ग जोड़कर पदों की रचना की जाती है। कभी-कभी अर्थ की विभिन्नता स्वरों के अन्तर से ही जान पड़ती है। इस परिवार में लगभग ६५० भाषाएँ हैं जो तीन समूहों में बाँटी गई हैं। पूर्वी बान्तु परिवार में प्रधान भाषाएँ काफिर और जुलू हैं।

मध्यवर्ती में प्रधान भाषा सेसुतो है तथा पश्चिमी में प्रधान भाषा कांगों। इन भाषाओं में साहित्य नहीं मिलता। जंजीवार और पड़ोस के समुद्र तट की भाषा स्वहीली में अरबी लिपि में लिखे कुछ लेख प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त इन भाषाओं का ज्ञान हमें पादरियों के द्वारा लिखी गई रोमन लिपि की किताबों में मिलता है। बान्तु परिवार की भाषाएँ सुनने में मधुर तथा इसके शब्द स्वरान्त होते हैं। इनमें संयुक्त व्यञ्जनों का अभाव रहता है। केवल अनुनासिक के बाद ही व्यञ्जन का संयोग होता है।

सुडान परिवार—इस परिवार की भाषाएँ अफ्रीका के उत्तर में और हैमेटिक परिवार के दक्षिण में बोली जाती हैं। कुछ दृष्टियों में यह परिवार बान्टु से साम्य रखता है। इस परिवार की भाषा में विभक्तियाँ नहीं पाई जाती हैं। ये व्यास-प्रधान होती हैं। लिंग भेद का अभाव रहता है। सभी धातुएँ एकाक्षर होती हैं। इन भाषाओं की प्रवृत्ति व्याकरणिक सम्बन्ध की ओर दिखाई नहीं देती। इस परिवार में भाषाओं की संख्या अधिक है, परन्तु केवल पाँच छः ही लिपिबद्ध पाई जाती हैं। इनमें मुख्य भाषाएँ नीग्रोसेनठाल, समूह की वाइ, नीग्रीकमेरून की कोम, कानूरी हाउसा तथा प्यूल हैं। इन भाषाओं की आकृति मुख्य रूप से अयोगात्मक है धातुएँ एकाच् होने से तथा उपसर्गों और प्रत्ययों का अभाव होने से अर्थ का भेद सुरों के द्वारा होता है। बहुवचन का भाव साफ-साफ नहीं झलकता।

सुडान और बान्तु परिवार में समानता भी पाई जाती है। दोनों में संज्ञाओं को विभिन्न गणों में विभक्त किया गया है। सुर भी दोनों में पाया जाता है।

अफ्रीका का चौथा परिवार हैमेटिक परिवार है। इस परिवार की बोलियाँ बोलने वाली कुछ जातियाँ अफ्रीका के मध्य में तथा दक्षिण में दूर तक फैल गई हैं। इञ्जील में दिए हुए एक आख्यान के आधार पर हजरत के सबसे बड़े पुत्र सेम के नाम पर सैमेटिक नाम पड़ा और छोटे

पुत्र हैम के नाम पर उस परिवार का नाम हैमेटिक पड़ा। इन भाषाओं में पद बनाने के लिए उपसर्ग और प्रत्यय दोनों लगाए जाते हैं। पदरूप बनाने के लिए क्रियाओं में प्रत्यय और संज्ञाओं में उपसर्ग लगते हैं। क्रिया में काल बोध नहीं होता। लिंग भेद का आधार भी कुछ निराला ही है। सामान्य रूप से कह सकते हैं कि बड़े भारी भरकम के लिये पुलिंग और निर्बल तथा हल्के के लिये स्त्रीलिंग का प्रयोग होता है।

सैमेटिक परिवार की भाषा मरक्को से स्वेज नहर तक बोली जाती है। इसका प्रधान क्षेत्र एशिया है। इस परिवार का उद्भव और विकास यूरेशिया खण्ड से ही हुआ है। इस परिवार की भाषाओं ने संसार की अनेक जातियों को लिपि की कला सिखाई है। इन भाषाओं के रूप स्वरों के विकार से ही उत्पन्न होते हैं। इन स्वरों के द्वारा ही मात्रा, संख्या, स्थान आदि बातों का बोध होता है। क्योंकि सैमेटिक परिवार की विभक्तियें अन्तर्मुखी हैं। अतः विभक्तियों के साथ ही पूर्व और पर विभक्तियों का व्यवहार होता है। इन भाषाओं की एक विशेषता यह है कि हैमेटिक और भारोपीय परिवार की भाँति व्याकरणिक लिंगभेद होता है। कारक तीन होते है। सर्वनामों को क्रिया के अन्त में जोड़ा जाता है। इस परिवार की कुछ भाषाएँ बहुसंहित से व्यवहित हो गई हैं। इस परिवार के उत्तरी सैमेटिक और दक्षिणी सैमेटिक परिवार के दो भाग हैं। उत्तरी सैमेटिक में असीरिया-अर्माइक तथा केत्रानिटिक जिसमें आधुनिक हिब्रू, फीनीशियन, प्यूनिक आदि भाषाएँ बोली जाती हैं। दक्षिणी सैमेटिक में साहित्यिक अरबी, मिस्र की अरबी तथा मरक्को की बोलियाँ हैं तथा दक्षिणी सैमेटिक में एबीसीनीयन भाषा बोली जाती है।

यूरेशिया खण्ड—इस खण्ड की भाषाएँ अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इसी खण्ड की भाषा में संसार की सबसे अधिक सभ्यता और संस्कृति निहित है। इन भाषाओं में ही संसार का प्राचीनतम साहित्य पाया

जाता है। यहाँ की सभी भाषाएँ संस्कृत और साहित्यिक हैं। यूरेशिया खण्ड में निम्नलिखित सात भाषा परिवार माने जाते हैं।

१. यूराल अल्ताई परिवार, २. एकाक्षर अथवा चीनी परिवार, ३. द्राविड़ परिवार, ४. काकेशस परिवार, ५. सैमेटिक परिवार, ६. भारोपीय परिवार, ७. विविध समुदाय।

यूराल अल्ताई परिवार—भाषा-विज्ञान के प्रारम्भिक काल में विद्वानों ने भारोपीय और सैमेटिक परिवार की कल्पना की। इसके अतिरिक्त एक तीसरे परिवार की कल्पना की थी जिसे 'तुरानी' परिवार कहते थे। परन्तु अब अधिक खोज करने पर तुरानी के नाम को छोड़-कर यूराल अल्ताई कर दिया गया है क्योंकि खोज के आधार पर ज्ञात हुआ है कि इस परिवार का मुख्य स्थान यूराल और अल्ताई पर्वतों के मध्य का प्रदेश समझा जाता है। इस परिवार में इतनी भाषाएँ सम्मि-लित हो गई हैं कि इसको समुदाय कहना अधिक उचित प्रतीत होता है। यूराल परिवार में दो भाषा समूह (फीनी-उग्री और समोयेदी) हैं तथा अल्ताई में तीन भाषाएँ तुर्की, मंगोली तथा तुगूजी मानी जाती हैं। इन परिवारों में दो-तीन लक्षण समान हैं।

स्वर की अनुरूपता सभी समूहों में मिलती है। प्रत्ययों तथा धातुओं के स्वर के अनुरूप गुरू तथा लघु कर दिया जाता है। शब्दों में सम्बन्ध-वाचक सर्वनामों का प्रत्यय रूप जोड़ना भी इन भाषाओं की विशेपता है। पदों की सिद्धि के लिये यौगिक प्रतिक्रिया सर्वत्र मिलती है।

एकाक्षर अथवा चीनी परिवार—इस परिवार की चार मुख्य शाखाएँ हैं अनामी-स्यामी, तिब्ती—ब्रह्मी और चीनी ये सभी समूह एक ही परिवार के माने जाते हैं। चीनी परिवार की भाषाओं के मुख्य लक्षण पदों की एकाक्षरता और व्याकरण का अभाव है। चीनी भाषा इतनी विकसित और सूक्ष्म है कि सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचारों को सरलता से व्यक्त करती है। बौद्ध धर्म सम्बन्धी बहुत-सा साहित्य इस भाषा में लिखा जा चुका है। भाषा में स्थान-भेद से अर्थ-भेद हो जाता है।

भाषाएँ स्थान-प्रधान अथवा आयोगात्मक हैं। एकाक्षर शब्दों की संख्या कम है। अतः भावों की अभिव्यक्ति कठिनता से होती है। एक शब्द विभिन्न सुरों में विभिन्न अर्थ की अभिव्यक्ति करता है। भारोपीय परिवार की भाँति यहाँ भी भाषा का व्याकरण नहीं है।

द्राविड़ परिवार—यह परिवार दक्षिणी भारत में नर्बदा और गोदावरी से लेकर कुमारीअन्तरीप तक फैला हुआ है। इसी को तामिल परिवार भी कहा जाता है। इसका कारण यह है कि द्राविड़ का विकसित रूप तामिल ही है। इससे सिद्ध होता है कि द्राविड़ परिवार का एकमात्र सम्बन्ध दक्षिणी भारत से ही है। परन्तु कई विद्वानों ने इसका सम्बन्ध आस्ट्रेलिया और फिनोअग्रिक भाषाओं से जोड़ने का प्रयत्न किया है। विद्यमान द्राविड़ भाषाएँ चार वर्गों में बाँटी जा चुकी हैं—द्राविड़ वर्ग, आँध्र वर्ग, मध्यवर्त्ती वर्ग, बहिरंग वर्ग अर्थात् ब्राहुई बोली।

काकेशस परिवार—काला सागर और कैस्पियन सागर के मध्यवर्त्ती भूभाग में दो छोटे-छोटे भाषा समूह ऐसे हैं जो काकेशस पर्वत से घिरे हुए हैं इन्हें उत्तरी काकेशस और दक्षिणी काकेशस कहा जाता है। इन भाषाओं को बोलने वाले पर्याप्त मात्रा में हैं। उत्तरी और दक्षिणी शाखा में परस्पर काफी भेद है। उत्तरी शाखा में व्यञ्जनों का बाहुल्य है और स्वरों की कमी है। दोनों की पद रचना अत्यन्त जटिल है। क्रिया की प्रतिक्रिया इतनी जटिल है कि मूल धातु की खोज कर पाना अत्यन्त कठिन हो जाता है। उत्तरी काकेशी में न कोई निजी साहित्य है और न लिपि। दक्षिणी शाखा में प्रमुख बोली जार्जी है। इसमें १० वीं सदी से इधर बराबर साहित्य मिलता है। इसकी लिपि भी स्वतन्त्र है।

सैमेटिक परिवार—सैमेटिक परिवार का वर्णन अफ्रीका खण्ड में विस्तार से किया गया है।

भारोपीय परिवार—यह परिवार यूरेशिया का ही नहीं, विश्व का सबसे बड़ा परिवार है। इस परिवार के बोलने वाले भी सबसे अधिक हैं। इसका साहित्यिक और धार्मिक महत्त्व भी अधिक है। इसकी विशेषतायें

वहिर्मुखी हैं। सभी भाषाएँ संहित से व्यवहित हो रही हैं। धातुएँ एकाच हैं। पूर्व विभक्तियाँ नहीं होतीं। समास रचना की शक्ति अधिक है। इस परिवार के अनेक नाम प्रचलित हैं। आर्य, भारत ईरानी वर्ग, इंडो जर्मन, भारत जर्मनीय तथा अब भारोपीय परिवार रखा गया। इस परिवार की नौ प्रधान शाखाएँ हैं कैल्टिक, जर्मन, इटालिक, ग्रीक, तोखारी, अल्बेनियन, लैटोस्लाव्हिक, आर्मेनियन तथा आर्य या हिन्दी इरानी परिवार हैं।

विविध समुदाय—इस परिवार में सभी भाषाएँ बोली जाती हैं जो किसी निश्चत् परिवार के अन्तर्गत नहीं रखी जा सकतीं। इस समुदाय में दो प्राचीन एट्रस्कन और सुमेरियन भाषाएँ हैं। जिनका कोई निश्चित परिवार ज्ञात नहीं है। एट्रस्कन भाषाएँ इटली के मध्य और उत्तरी प्रदेश में उस समय बोली जाती थीं जब रोमन साम्राज्य की स्थापना नहीं हुई थी। सुमेरियन भाषा भी यूराल-अल्ताई के अन्तर्गत रखी गई थी। आधुनिक अनिश्चित् भाषाओं में बास्क कोरियाई, जापानी और हरयरबोरी समुदाय की बोलियाँ बोली जाती हैं।

प्रशांत महासागर खंड—इस भूखंड में भी अनेक भाषाएँ और बोलियाँ बोली जाती हैं। इस भूखण्ड के मुख्य पाँच परिवार हैं—मलयन, मेलानेसियन, पालीनेसिअन, ये तीन बड़े परिवार तथा दो छोटे परिवार पापुअन और आस्ट्रेलियन हैं। इस भूखण्ड का दूसरा नाम मलय-पालीनेसिअन भूखण्ड है। इनमें मलय वर्ग में भाषाएँ मलय प्रायदीप, जावा, सुमात्रा बोर्नियो, फिलिपाइन, निकोबार, फारमूसा आदि द्वीपों में बोली जाती हैं तथा मेलानेशिया परिवार की भाषाएँ न्यूगिनी से लेकर फिजी तक पालीनेशियन न्यूजीलैंड में, आस्ट्रेलिया महाद्वीप और पापुअन भाषाएँ न्यूगिनी के कुछ भागों में बोली जाती हैं। ये सभी भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक हैं। धातुएँ प्रायः दो अक्षरों की हैं। भाषा की प्रवृत्ति धीरे-धीरे संयोगावस्था से वियोगावस्था को जा रही है। ये खण्ड हिन्द महासागर तथा प्रशान्त

महासागर आदि में उधर मैडागस्कर से लेकर चिली तक तथा ईस्टर तक फैला हुआ है।

अमेरिका खण्ड—इस खण्ड में उत्तरी तथा दक्षिणी दोनों अमेरिका की भाषा सम्मिलित है। दक्षिणी अमेरिका में ग्रीनलैंड, केनेडा, संयुक्त राज्य, मैक्सिको, युकतन है। इस प्रकार क्रमशः ग्रीनलैंड में एक्सिमो, केनेडा में अथवास्कन, संयुक्त राज्य में अल्गोंकिन, इरोक्वाइस इत्यादि, मैक्सिको में मोदेरू बहुआतल्स, अजतेक तथा युकतन में मय भाषा बोली जाती है। उत्तरी अमेरिका के उत्तर में करिब और अरवाक, मध्यदेशीय में गुआर्नी-तूपी, पश्चिमीय में (पेरू, चिली) क्विन्चुआ अरौकन, दक्षिण में चाको तीरा डेल फुआयगो भाषाएँ बोली जाती हैं। इन भाषाओं का विस्तृत विवेचन नहीं मिलता। ये सभी भाषाएँ प्रश्लिष्ट योगात्मक हैं। इनमें वाक्य-शब्दों की प्रधानता है। यह समास-प्रधान भाषा वर्ग है। 'नाधोलिनिन' शब्द इसी भाषा का ज्वलन्त उदाहरण है। इस खण्ड की भाषाओं की सामग्री का अभाव है।

प्रश्न १४—भारोपीय परिवार का परिचय दीजिए और उसकी विशेषताएँ भी बतलाइए।

यूरेशिया खण्ड का सर्वप्रमुख परिवार भारोपीय परिवार ही है। केवल इसका ही नहीं, प्रत्युत समस्त संसार का सर्वप्रमुख भाषा परिवार है। इसके बोलने वाले संसार में सबसे अधिक हैं। साहित्यिक तथा धार्मिक दृष्टि से यह परिवार बड़े महत्त्व का है। संसार के समस्त भाषा-परिवारों में क्षेत्र, सीमा, भाषा तथा साहित्य की दृष्टि से सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इस परिवार का अध्ययन तथा अनुशीलन भी अत्यधिक मात्रा में हुआ है। इस परिवार की भाषाएँ मुख्यरूप से हमारे देश के अधिकांश भागों में—ईरान, आर्मीनिया, यरोप महाद्वीप, अमरीका, अफ्रीका के दक्षिणी और पश्चिमी कोने में तथा आस्ट्रेलिया में बोली जाती हैं। इस परिवार की सीमा उत्तरी-भारत से लेकर ईरान और

जासोनिया होती हुई यूराल अल्टाइक तथा वास्क के कुछ भाग को छोड़ कर ब्रिटेन और ब्रिटिश द्वीपों के पश्चिमी भाग तक है। संसार के सभी भाषा-परिवारों में इसकी महत्ता अधिकतर इसलिए भी है कि इस परिवार के तुलनात्मक अध्ययन से ही भाषा-विज्ञान का आविर्भाव हुआ। इस परिवार का उचित तथा युक्ति संगत नामकरण आरम्भ से ही विवादास्पद रहा है। अतः इस विषय में विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने मत का प्रतिपादन किया है।

सर्वप्रथम इस परिवार का नाम इन्डोजर्मनिक रखा गया। पिछले दो सौ वर्षों में जर्मन विद्वानों ने इस विज्ञान का अध्ययन करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि य परस्पर सम्बद्ध भाषाएँ एक ओर पूर्व दिशा में भारत में बोली जाती हैं और दूसरी ओर पश्चिमी छोर पर जर्मन में। अतः यह स्वाभाविक ही था कि इसका नाम 'इन्डोजर्मनिक' रखा जाता। परन्तु आयरलैंड और वेल्ज़ में बोली जाने वाली केल्टी शाखा की भाषाएँ जर्मनी शाखा में नहीं थीं इसलिए इन्डोजर्मनिक नाम अनुपयुक्त समझा गया। फिर मैक्समूलर आदि प्रभृति लेखकों ने इसे आर्य परिवार नाम दिया। परन्तु अब आर्य शब्द से भारत-ईरानी वर्ग का ही बोध होता है। फिर इसके पश्चात् इसी वर्ग का नाम इन्डो-केल्टिक सुझाया गया। परन्तु यह नाम भी न चल सका। यद्यपि परिवार की मुख्य भाषा संस्कृत है और इस नाम को सांस्कृतिक-दृष्टिकोण दिया गया, परन्तु इस निश्चय के कारण कि संस्कृत सब भाषाओं का आदि स्रोत नहीं है, यह नाम भी छोड़ दिया गया।

इंजीली सम्प्रदाय के अनुसार सामी और हामी के आधार पर हज़रत नूह के तीसरे बेटे जैफ के नाम पर जैफाइट नाम भी रखने का विचार किया गया, परन्तु यह विचार भी आगे न बढ़ सका। इसके अतिरिक्त इस परिवार का नाम इन्डोयूरोपियन भी रखा गया। फ्रांस, इंगलैंड आदि देशों के विद्वानों ने इन्डोयूरोपियन नाम पसन्द किया। उनकी इस विषय में युक्ति यह है कि भारत और यूरोप इन्हीं दो महादेशों में ये

भाषाएँ गौरव को प्राप्त हुई हैं । इसलिए यह नाम ठीक है। परन्तु जर्मनी वाले अभी तक भी इन्डोजर्मनिक नाम का प्रयोग करते हैं । क्योंकि उनका विश्वास है कि इन्डोजर्मनिक नाम का बहिष्कार उस नाम की अनुपयुक्तता के कारण इतना नहीं हुआ, जितना जर्मनी नाम तक के द्वेष के कारण । इस परिवार के 'आर्य परिवार' शब्द के विरुद्ध यूरोप के विद्वानों ने अपने अपने तर्क दिए हैं । परन्तु 'आर्य' नाम आक्षेपहीन है । क्योंकि भारत और ईरान में आर्य शब्द का प्रयोग सर्वाधिक मात्रा में हुआ है । ईरान ने तो इस गौरव का प्रत्यक्ष प्रमाण ईरान = अइराण = आर्याणाम्" को प्रयोग में लाकर दिया है । इसके अतिरिक्त इन्डोयूरोपियन नाम बड़ा भारी है । आर्य छोटा है और इसका उच्चारण सुगम है । सामी, हामी और बान्टू परिवार के नामों की भांति जेस्पर्सन ने भी इसे पसन्द कर लिया है ।

इसका नाम इन्डोकेल्टिक भी रखा गया क्योंकि यदि इसके पूर्वी और पश्चिमी छोर पर क्रमशः भारतीय और जर्मनी भाषाएँ हैं परन्तु उसके भी पश्चिम में केल्टिक शाखा है । भौगोलिक दृष्टि से यह नाम उचित है।

सर्वाधिक प्रचलित नाम भारोपीय परिवार है । जर्मनी को छोड़कर भारत तथा सभी यूरोपीय देशों में यह नाम प्रचलित हो चुका है । भाषा-वैज्ञानिकों ने भी इस नाम को तथ्यपूर्ण स्वीकार किया है । यह नाम इस परिवार की भाषाओं के भौगोलिक विस्तार पर भी प्रकाश डालता है ।

यह परिवार निर्विवाद रूप से समस्त संसार के भाषा-परिवारों में महत्त्वपूर्ण है । क्योंकि वास्तव में भाषा-विज्ञान की नींव इसी परिवार पर आधृत है । बहुत प्राचीन काल से इस परिवार की भाषाओं का विकास हुआ है । ऋग्वेद के रूप में जितना ऐतिहासिक साक्ष्य इस परिवार की भाषाओं में मिलता है, उतना अन्य भाषाओं में नहीं । संसार का सबसे महत्त्वपूर्ण साहित्य संस्कृत, ग्रीक और लैटिन में ही है, और वे तीनों इसी परिवार की भाषाएँ हैं । देश की दृष्टि से भी इस परिवार का विस्तार अधिक है ।

इस परिवार की विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

विभक्तियाँ प्राय: वहिर्मुखी हैं और प्रकृति के अन्त में अर्थात् 'पर' में लगती हैं। यह परिवार श्लिष्ट योगात्मक है। योग अधिकतर सैमेटिक या हैमेटिक, भाषाओं की भाँति अन्तर्मुखी न हो कर वहिर्मुखी हैं।

इस परिवार की सभी भाषाएँ संहित से व्यवहित हो रही हैं। धातुएँ प्राय: सभी एकाक्षर हैं, जिनमें तद्धित या कृत्य प्रत्यय लगाकर पद या शब्द बनते हैं। इसमें पूर्व-विभक्तियाँ अथवा पूर्व सर्ग नहीं होते प्रत्युत उपसर्ग होते हैं। उनका वाक्य के अन्वय से कोई सम्बन्ध नहीं होता। परन्तु सैमेटिक परिवार की भाषाओं में ऐसी पूर्व-विभक्तियाँ होती हैं, जो वाक्य का अन्वय सूचित करती हैं। समास रचना की जितनी शक्ति इस परिवार की भाषा में पाई जाती है उतनी सैमेटिक परिवार आदि में नहीं पाई जाती। समास-रचना के समय विभक्तियों का लोप हो जाता है। समास द्वारा बने हुए शब्दों का वह रूप नहीं रहता जो उनके अलग-अलग शब्द को एक स्थान पर रखने से होता है।

'अक्षरावस्थान' इस परिवार की अपनी विशेषता है। यद्यपि सैमेटिक में भी इससे मिलती-जुलती बात 'स्वरानुरूपता' में देख पड़ती है पर दोनों के कारणों में बहुत बड़ा अन्तर है। भारोपीय परिवार की भाषा में अक्षरावस्थान का कारण स्वर अथवा बल होता है और सैमेटिक परिवार में स्वरानुरूपता वाक्य के अन्वय से सम्बन्ध रखती है; स्वर परिवर्तन से ही सम्बन्धतत्त्व सम्बन्धी परिवर्तन हो जाता है। स्वराघात के कारण स्वर-परिवर्तन और जब धीरे-धीरे प्रत्ययों का लोप हुआ तो वे स्वर परिवर्तन ही सम्बन्ध परिवर्तन को भी स्पष्ट करने लगता है।

इस परिवार की भाषाओं में सभी प्रकार के सम्बन्धों के लिए विभक्तियों का प्रयोग होता है, अत: विभक्तियों का बाहुल्य हो गया है। इस परिवार में सैमेटिक परिवार की भाँति एकता होने के कारण उन विभक्तियों में नित नूतन परिवर्तन होते हैं। अत: इनमें विभक्तियों की सम्पत्ति बहुत बढ़ गई है।

कुछ भाषा-वज्ञानियों के अनुसार प्राक्ऐतिहासिक काल में भी इस भारोपीय भाषा में दो विभाषाएँ थीं। इसी से तत्कालीन निकली हुई भाषाओं की ध्वनियों में भेद पाया जाता है। ग्रीक, लेटिन आदि भाषाओं में प्राचीन मूलभाषा के चवर्ग ने कवर्ग का रूप ग्रहण कर लिया है तथा संस्कृत, ईरानी आदि में वही ध्वनि उष्म धर्षक बन गई है। जैसे—लैटिन आदि में केंटुम्-आक्टो डिक्टों रूप पाये जाते हैं वही संस्कृत में ईरानी आदि भाषाओं में शतम्, अष्टौ और दिष्टि रूप मिलते हैं। इसी अवान्तर भेद के कारण भारतीय आर्य भाषाओं को दो वर्गों में विभक्त किया गया है—

केंटुम् और शतम्

केंटुम् वर्ग की भाषाओं को छः शाखाओं में विभक्त किया गया है—

१. केल्टिक, २. ट्यूटानिक, ३. लैटिन, ४. हैलेनिक, ५. हिट्टाइट और ६. तोखारी।

शतम् वर्ग की भाषाओं को भी चार उपकुलों में बाँटा गया है—

१. अल्बेनियम, २. लेटोस्लाव्हिक, ३. आर्मेनियम, और ४. आर्य (हिन्दी ईरानी) ईरानी हिन्दी।

केल्टिक शाखा—इस शाखा के बोलने वाले यूरेशिया के पश्चिमी कोने में रहते हैं। इस शाखा की सीमा वेल्ज़, आयरलैंड, स्काटलैंड, ब्रिटेनी तथा कार्नवाल के कुछ ही भागों तक सीमित है। इस शाखा का लैटिन शाखा से अत्यन्त साम्य है। इस शाखा में उच्चारण भेद के कारण 'क' और 'प' दो वर्ग मिलते हैं। 'प' वर्ग को ब्रिटानिक और 'क' को गायिलक कहते हैं।

ट्यूटानिक—यह भारोपीय परिवार की सबसे महत्त्वपूर्ण शाखा है। इसकी भाषा अंग्रेजी आज अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है। ध्वनि परिवर्तन इस भाषा में होता है। इस शाखा की भाषा प्राचीन काल से ही संहित से व्यवहित की ओर जाती है। दूसरे वर्ण परिवर्तन—(ईसा की सातवीं

शताब्दी) में इस शाखा के दो भाग हुए, जिसमें पहले को पश्चिमी जर्मन और दूसरे को पूर्वी जर्मन कहते हैं।

लैटिन—इसे इटाली शाखा भी कहते हैं। लैटिन यहाँ की प्रधान भाषा है। आज भी यह भाषा रोमन-कैथोलिक सम्प्रदाय की प्रधान भाषा है। इसके भी वर्ग किये गये हैं। लैटिन और अम्ब्रोसेमानिटिक। इन दोनों परिवारों की भिन्न-भिन्न भाषाएँ हैं। परन्तु सबसे प्रधान लैटिन ही है। अन्य सब भारोपीय भाषाओं की भाँति व्यवहित प्रधान है।

हैलेनिक—ग्रीक भाषा का आदि रूप होमर की रचनाओं में मिलता है। ग्रीक भाषा अनेक रूपों में वैदिक संस्कृत से मिलती-जुलती है। दोनों में ही संगीतात्मक स्वराघात प्रधान था। कालान्तर में दोनों बलात्मक स्वराघात की ओर प्रवृत्त होने लगीं। संस्कृत में संज्ञा सर्वनामों के रूप और ग्रीक में क्रिया और अव्यय आदि के रूप अधिक हैं। ग्रीक में संस्कृत की अपेक्षा स्वर अधिक हैं और संस्कृत में ग्रीक की अपेक्षा व्यंजन।

हिट्टाइट—एशिया माइनर के बोगाजकोई की खुदाई से कुछ कीलाक्षर लेख १९ वीं सदी के उत्तरार्द्ध में मिले हैं। जिनसे हिट्टाइट भाषा का कुछ पता चलता है। इस भाषा को कुछ लोग अनिश्चित् परिवार की भाषा मानते हैं। परन्तु अध्यापक हाज्नी ने इसे भारोपीय परिवार की सिद्ध कर दिया है। विभक्तियाँ और सर्वनाम कुछ अंशों में संस्कृत और लैटिन से मिलते हैं।

तोखारी—तोखारी भी हिट्टाइट के समान ही केंटुम वर्ग की भाषा है। इस पर यूराल-अल्ताई का अत्यधिक प्रभाव है। इस भाषा में स्वरों की जटिलता कम है। सन्धि नियम संस्कृत के समान है। शब्द भण्डार भी संस्कृत के समीप ही है।

शतम् वर्ग की भाषाएँ

अल्बेनियन—इस भाषा के बोलने वाले ऐड्रिआटिक सागर के किनारे कारिन्थियक की खाड़ी से इटली के दक्षिण पूर्वी भाग तक थे।

भाषा-वैज्ञानिकों द्वारा इसका अच्छा अध्ययन किया गया है। परन्तु कुछ शिला लेखों के अतिरिक्त इसमें कोई साहित्यिक सामग्री प्राप्य नहीं। इस भाषा के अध्ययन के द्वारा यह स्पष्ट सिद्ध हो गया है कि रूप और ध्वनि की विशेपताओं के कारण इसे एक भिन्न परिवार ही कहना चाहिये।

लेटो स्लाह्विक—इसकी भी कोई प्राचीन शाखा नहीं है। इसके दो मुख्य वर्ग हैं—लैटिक और स्लाह्विक। लैटिक वर्ग में तीन भाषाएँ आती हैं जिनमें औल्ड प्रशिअन नष्ट हो गई है। शेष लिथुआनियन और लैटिक रूस के पश्चिमी भागों में बोली जाती है। स्लाह्विक इससे अधिक विस्तृत वर्ग है। इसमें रूस, पोलैंड, बुहेमियाँ, यूगोस्लाह्विया आदि सभी की भाषाएँ आ जाती हैं।

आर्मेनियम—इस शाखा की भाषा आर्य उपकुल के पश्चिम में बोली जाती है। इसमें ईरानी शब्द अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। इसी कारण कुछ विद्वान इसे आर्य परिवार की ईरानी भाषा में मानते हैं। तुर्की और अर्वी शब्द इस शाखा में मिलते हैं। योरुप और एशिया की सीमा पर बोली जाने वाली प्राचीन भापा फ्रिजियन भी इसके अन्तर्गत है।

आर्य-इरानी-हिन्दी—भारोपीय परिवार की आर्य शाखा महत्त्वपूर्ण है। आर्य परिवार का प्राचीन प्रामाणिक साहित्य इसी शाखा में मिलता है। इस शाखा की भाषाओं की गठन तथा उनका साहित्य महत्त्वपूर्ण है। इस शाखा के आर्य अन्य आर्यों का साथा छोड़ ईरान की ओर वढ़े। अतः इसकी भारतीय और ईरानी दो शाखाएँ हुईं। अतः इसका नाम भारत-ईरान रखा। इस कुल की तीन भापाएँ हैं—ईरानी, दरद और भारतीय।

ईरानी की रचना वहुत पहले से आरम्भ हो चुकी है। इसकी भापा ऋग्वेद से मिलती-जुलती है।

दरद भापा का क्षेत्र पामीर और पश्चिमोत्तर पंजाव है। गठन की दृष्टि से पश्तो की भाँति दरद भी ईरानी और भारतीय के वीच है। पश्तो यदि इरानी की ओर झुकी है तो दरद भारतीय की ओर। दरद

भाषा की शाखा तीन भाषाएँ—खोवार, काफ़िर और दरद। तथा भारतीय तीन भागों में विभक्त है—प्राचीन, मध्य और आधुनिक काल।

प्रश्न १५—अर्थ-परिवर्तन की दिशाएँ बतलाइए।

भाषा और अर्थ का अभिन्न सम्बन्ध है। इनकी अभिन्नता महाकवि कालिदास ने "वागर्थाविव संपृक्तौवागर्थौ प्रतिपत्तए" के द्वारा स्पष्ट कर दी है। इस प्रकार शब्द और अर्थ एक दूसरे से जुड़े रहते हैं। अर्थ ही शब्द का प्राण है। अर्थ-विचार के अन्तर्गत किसी शब्द के अर्थतत्व में होने वाले परिवर्तन या विकास के कारण उसकी दिशा पर विचार किया जाता है। उदाहरणार्थ गँवारू का शाब्दिक अर्थ है—"गाँव का रहने वाला" परन्तु आज उसका प्रचलित अर्थ असभ्य या असंस्कृत है। इस परिवर्तन का कारण यह है कि गाँव के लोग अधिकतर असभ्य, असंस्कृत और अशिक्षित् होते हैं। अतः अनुमान के आधार पर गँवारू का सांकेतिक अर्थ इस प्रकार का कर दिया गया। अर्थ-प्रकाशन की प्रवृत्ति के आधार पर शब्दार्थ कभी घटता, कभी बढ़ता और कोई सांकेतिक हो जाता है। प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक ब्रेअल के आधार पर अर्थ-परिवर्तन की तीन दिशाएँ मानी जाती हैं—१. अर्थ-संकोच, २. अर्थ-विस्तार, ३. अर्थादेश। किंतु इनके अतिरिक्त भी कुछ ऐसे उदाहरण पाये जाते हैं, जिनके अर्थ में किन्हीं दूसरे कारणों से विकार उत्पन्न होता है।

१. अर्थविस्तार—इसमें शब्दों का अर्थ अपने सीमित क्षेत्र से निकल कर विस्तार को प्राप्त होता है। वस्तुओं के नाम सदैव उपाधियों और गुणों के आधार पर ही रखे जाते हैं, पीछे उनका रूढ़ और संकुचित अर्थ ही सामने रह जाता है। ऐसी स्थिति में आवश्यकता पड़ने पर नाम विशेष से सामान्य की ओर चला जाता है।

उदाहरणार्थ—स्याही शब्द का मूल अर्थ है 'काली' पर अब उसका अर्थ रूढ़ हो गया है, किसी भी प्रकार की लिखने वाली स्याही—जैसे हम कहते हैं—काली स्याही, लाल स्याही, नीली स्याही आदि। अब यहाँ स्याही विशेष अर्थ से सामान्य की ओर बढ़ गई है।

'तैल' शब्द का भी अर्थ विस्तार हो गया है। पहले तैल शब्द का अर्थ 'तिल का सार' होता था आज इसका इतना विस्तार हो गया है कि केवल सरसों, मूंगफली या नारियल के तैल को तैल नहीं बोलते वल्कि मिट्टी का तैल, मछली का तैल, हो गया है। यह शब्द मुहावरे के रूप में भी प्रयुक्त होता है, जैसे—काम करते-करते तो आज शरीर से तैल निकलने लगा।

कई वार व्यक्तिवाचक नाम भी अपनी विशेषता के कारण अर्थ-विस्तार कर लेते हैं। जैसे गंगा—भारत की कोई भी पवित्र नदी को गंगा कहा जा सकता है। "उत्तराखण्ड में बीसों गंगा बहती हैं।" फिरंगी इसका अच्छा उदाहरण है। जैसे पहले फिरंगी पुर्तगाली डाकू के लिये प्रयुक्त होता था। पीछे उनकी वर्णसंकर सन्तानों के लिये प्रयुक्त होने लगा। अब यह शब्द यूरोपियन मात्र का बोध कराता है।

कई वार बड़े महत्त्व के व्यक्तिवाचक भी जातिवाचक वन अपने अर्थ का विस्तार करते है, जैसे—यहां तो कई कालिदास बैठे हैं। भारत को अभी अनेकों 'गाँधी' चाहियें।

आलंकारिक प्रयोगों में अर्थ विस्तार बहुत होता है—सीधा पथ, सीधा वचन, सीधा मन, फल खाना, मार खाना, भय खाना, घूंस खाना आदि।

इस प्रकार अर्थ विस्तार के उदाहरण अधिकतर उपचार की क्रिया के अन्तर्गत आते हैं, अर्थात् ज्ञात से अज्ञात अर्थ की व्याख्या। इस प्रकार पत्र, गोसाईं, गवेषणा, जयचन्द शब्द भी अर्थ विस्तार लिये हुए हैं।

२. अर्थ संकोच—भाषा के विकास में अर्थ संकोच बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। भाषा के आरम्भ-काल में सभी शब्द सामान्य रहे परन्तु सभ्यता के विकास के साथ-साथ विशिष्ट की भावना आती गई और अर्थ संकोच होता गया। भाव यह है कि भाषा में अर्थ संकोच तब होता है जब कोई शब्दार्थ सामान्य अर्थ का द्योतक न होकर किसी विशिष्ट अर्थ के घेरे में बँध जाये। ब्रेअल ने लिखा है कि जाति और देश जितना अधिक

सभ्य और उन्नत होगा, उसकी भाषा में उतना ही अर्थ संकोच होगा। क्योंकि यह नियम विकासवाद के सिद्धान्त के अनुकूल पड़ता है।

उदाहरणार्थ—पहले संस्कृत में मृग शब्द का प्रयोग जानवर मात्र के लिये होता था परन्तु अब हिन्दी में हरिन विशेष के लिये होता है।

फारसी में मुर्ग शब्द का अर्थ पक्षी मात्र होता है परन्तु बँगला हिन्दी आदि में मुर्गा पक्षी विशेष का बोध कराता है।

प्राय: व्यवसायी और व्यापारी सदा सामान्य और यौगिक शब्दों से ही अपना काम लेते हैं परन्तु उनके पीछे उनका अर्थ संकुचित हो जाता है। खोलाई या भराई शब्द जब चित्रकार के मुख से निकले तो दूसरा ही अर्थ देंगे। वैसे 'गोली' शब्द सामान्य है परन्तु इसीको स्याही की गोली, वैद्य की गोली, या दरजी की गोली के साथ कर दिया जाये, तो प्रत्येक स्थान पर उसका विशिष्ट अर्थ हो जायेगा। इस प्रकार धान्य, रत्न, अन्न आदि शब्दों का विस्तार हो गया है। पहले प्राय: सभी शब्द सामान्य होते हैं पीछे संकोच के बढ़ते-बढ़ते वे विशेष और रूढ़ हो जाते हैं।

३. अर्थादेश—भाव-साहचर्य के कारण कभी-कभी किसी शब्द के प्रधान अर्थ के साथ गौण अर्थ भी चलने लगता है। किन्तु कुछ दिनों पश्चात् प्रधान अर्थ का धीरे-धीरे लोप हो जाता है और उस शब्द का गौण अर्थ ही प्रयुक्त होने लगता है। इस प्रकार एक अर्थ लुप्त होने और उसके साथ दूसरे अर्थ के आ जाने को अर्थादेश कहते हैं। उदाहरणार्थ 'दुहितृ' शब्द का अर्थ पहले दुहने वाली होता था परन्तु अब इसका अर्थ 'कन्या' प्रचलित हो गया है, अब गौण अर्थ कन्या ही प्रसिद्ध है। इसी प्रकार संस्कृत में वाटिका शब्द बाड़ी का अर्थ देता है परन्तु बँगला में यही शब्द घर के लिये प्रयुक्त होता है। पहले मुनि लोग ही मौन रखते थे। उनके विशुद्ध आचरण के लिये इस शब्द का प्रयोग होता था। धीरे-धीरे मौन शब्द का अर्थ चुप्पी के लिये होने लगा। आज भी साधारण अर्थ में हम चुप्पी शब्द का प्रयोग करते हैं।

अर्थादेश दो दिशाओं में होता है—१. अर्थापकर्ष और २. अर्थोत्कर्ष।

४. अर्थापकर्ष—ये शब्द जो पहले अच्छे अर्थ में प्रयुक्त होते हैं परन्तु धीमे-धीमे कारणवश उनमें बुरे अर्थ भी आने लगते हैं। फिर वही बुरे अर्थ उनका मुख्यार्थ बन जाते हैं। ऐसे शब्दों के अर्थ अपकर्ष को प्राप्त होते हैं। अर्थापकर्ष प्रायः तभी होता है जब संस्कृत शब्द तद्भव या अर्धतद्भव रूप धारण करते हैं। उदाहरणार्थ पहले सत् और असत् का अर्थ विद्यमान और अविद्यमान होता था, परन्तु अब उसका भले, बुरे या झूठ-सच के साथ हो गया है।

अतिशयोक्ति के कारण प्रायः शब्दों का जोर कम हो जाता है। सर्वनाश, निर्जीव, विराट, प्रलयकारी इन शब्दों का सामान्य अर्थ लिया जाता है अतः इनका सच्चा बल नष्ट हो जाता है।

जिन अर्थों और भावों को समाज गोपनीय समझता है उनको प्रकट करने वाले शब्द भी अपना प्रभाव और गौरव खो बैठते हैं। संस्कृत का शब्द सहवास, प्रसंग, समागम आदि कामशास्त्र के विशेष शब्द हैं। गाभिन, थन, यारी, दोस्ती आदि हिन्दी के असभ्य शब्द हैं।

इसी प्रकार महाराज और महाजन शब्द का अपकर्ष हो चुका है। ये शब्द पेशे के हैं जो जरा ऊँचे से नीचे आ गये हैं।

जिस प्रकार एक प्रांत बदलने से भाषा में परिवर्तन होता है, उसी प्रकार शब्द का दूसरी भाषा में आने पर कभी-कभी अर्थ भ्रष्ट हो जाता है। जैसे फारसी का खैरख्वाह शब्द हिन्दी में कुछ नीच वृत्ति को प्रकट करता है। चालाक का भाव भी कुछ छोटा ही प्रतीत होता है।

सतत् प्रयोग करने से भी कुछ शब्दों की शक्ति कम हो जाती है जिससे उनके अर्थ का अपकर्ष होता है। बाबू से बाबूगिरी शब्द हल्का अर्थ देता है। ऐसे ही अंग्रेजी का मिस्टर, हिन्दी का श्रीमान् शब्द हास्यास्पद सा बन गया है। 'पाखंड' शब्द का आज का रूप बड़े अपकर्ष को प्राप्त है। आज इसका अर्थ नीच, कपटी और ढोंगी के लिये होता है। पहले अशोक ने उन साधुओं को पाखंडी शब्द का प्रयोग किया था जो

बौद्ध नहीं थे। हिन्दी गुजराती में भी इस शब्द का अर्थ नीच ृत्ति वाला है।

५. अर्थोत्कर्ष—यह अर्थ परिवर्तन की दिशा ठीक अर्थापकर्ष के विपरीत है। जिस प्रकार जीवन में उत्कर्ष के प्रसंग विरल ही होते हैं उसी प्रकार भाषा-भण्डार में भी उत्कर्ष के उदाहरण कम पाये जाते हैं। शब्दों में अर्थ-परिवर्तन होकर पहले से अधिक और अच्छे अर्थ को ग्रहण करना अर्थोत्कर्ष कहलाता है। उदाहरणार्थ साहसी और मुग्ध शब्द के अर्थ का उत्कर्ष हुआ है। संस्कृत में 'साहसी' का अर्थ चोर-डाकू, हत्यारा, व्यभिचारी और झूठे व्यक्ति के लिये प्रयुक्त होता था। देखिये—

"मनुष्य मारणं स्तेयं परदाराभिमर्षणम्।
पारुष्यमनृतं चैव साहसं पंचधा स्मृतम्।"

परन्तु अब हिन्दी और बंगला में साहसी शब्द का अत्यन्त ऊँचा और सराहनीय अर्थ है।

कपड़ा शब्द में भी अर्थोत्कर्ष हुआ है। पहले संस्कृत में कर्पट और पाली में कप्पट शब्द जीर्ण-शीर्ण वस्त्र के लिये प्रयुक्त होता था। परन्तु अब कपड़ा अच्छे सुन्दर वस्त्र के लिये भी प्रयुक्त होता है।

संस्कृत में मुग्ध शब्द मूढ़ के अर्थ में प्रयुक्त होता था, परन्तु आज उस शब्द में मूढ़ता की तनिक भी गन्ध नहीं। 'मोहित होना' अर्थ लेकर यह शब्द अब चमक उठा है। ऐसे ही इण्डियन, बन्दी आदि शब्द हैं जिनका उत्कर्ष हुआ है।

६. अर्थापदेश—कई बार अप्रिय, अशुभ, भयानक, भद्दी और अमंगल-सूचक बातों को सभ्य शब्दों में व्यक्त किया जाता है। जिससे उनका दोष कम हो जाता है। प्रयोग होते-होते वे शब्द परस्पर इतने घुल-मिल जाते हैं कि एक जैसे प्रतीत होने लगते हैं। माता शब्द सामान्यतः माँ के लिये प्रयुक्त होता है परन्तु चेचक के लिये भी माता शब्द का प्रयोग होता है। इसी प्रकार कहा जाता है—शीतला महारानी की दया या माता देवी का कोप हो गया है।

विधवा होना न होकर—सिन्दूर पुंछ गया, चूड़ी टूटना, सिन्दूर लुटना आदि शब्दों का प्रयोग होता है।

इसी प्रकार किसी माननीय व्यक्ति की मृत्यु पर भी—स्वर्गवास होना, परलोक सिधारना, गुजर जाना, पूरे होना आदि शब्दों का प्रयोग होता है।

इसी प्रकार अन्य कई उदाहरण इस दिशा में प्राप्त हैं।

७. अर्थ का मूर्तिकरण और अमूर्तीकरण—कभी-कभी अमूर्त अर्थ मूर्त होकर आता है और कभी मूर्त अमूर्त होकर। भाव यह है कि कभी एक शब्द का अमूर्त अर्थ मूर्त हो जाता है अर्थात् वह शब्द क्रिया गुण अथवा भाव का बोधक न होकर किसी द्रव्य का वाचक हो जाता है और कभी उसके विपरीत मूर्ति का अर्थ अमूर्त बन जाता है।

पहले प्रकार के उदाहरणों में 'देवता' और 'जनता' शब्द हैं। ये पहले भाववाचक थे और अमूर्त अर्थ की अभिव्यक्ति करते थे अब इनका अर्थ जन+ता, देव+ता होने से मूर्त हो जाता है।

पहले सन्तति सिलसिले के अर्थ में अमूर्त शब्द था परन्तु अब यह मूर्त होकर सन्तान के अर्थ में प्रयुक्त होता है। मीठा और नमकीन पहले भाववाचक संज्ञा थे परन्तु अब इनका मूर्तिकरण मिठाइयों से हो जाता है।

दूसरे प्रकार के उदाहरणों में पहले कलेजा मूर्त रूप देता था और अब भी देता है। परन्तु इस वाक्य में देखिए—"स्वाभिमान की रक्षा ऐसे नहीं होती—इसके लिए गज भर कलेजे की आवश्यकता है।" यहाँ कलेजा साहस का अर्थ दे रहा है।

इसी प्रकार अंकुश मूर्त शब्द है। परन्तु इस वाक्य में, "बच्चों पर थोड़े अंकुश की आवश्यकता है।" इसका अमूर्त रूप है।

रोटी मूर्त होते हुए भी जीविका का अर्थ देती है।

८. **अर्थभेद**—जब किसी शब्द के अर्थ बिना किसी कारण के ही

परिवर्तित हो जाते हैं। उनके परिवर्तन में अमूर्त-मूर्त-विस्तार संकुचन का कोई कारण नहीं होता।

उदाहरणार्थ—घर्म्य संस्कृत का हिन्दी तद्भव में घाम बना है परन्तु बँगला में इसका अर्थ पसीने के लिए है जबकि संस्कृत आदि में धूप के लिए प्रयुक्त होता है।

६. अनेकार्थकता—में भी अर्थ परिवर्तन होता है। एक ही शब्द प्रसंगानुसार विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है। जैसे स्त्री शब्द पत्नी, सामान्य अर्थ में नारी तथा कपड़े पर लोहा करने को कहते हैं।

गोली का उदाहरण स्पष्ट है। घर शब्द गांव के कच्चे घरों के लिए प्रयुक्त होता है। परन्तु अब इस मकान में चार घर (परिवार) रहते हैं। उसका घर उजड़ गया। उसका घर बार कुछ नहीं। भारतवर्ष हमारा घर है, आदि के रूप में प्रयुक्त होता है।

१०. रूपक—कुछ शब्दों में कई बार रूपक से काम लिया जाता है। जैसे वह तो पंजाब का सिंह है। तुम तो गधे हो, वह डाकिन है। आज मुख-कमल मुरझाया क्यों है आदि में रूपक से अर्थ परिवर्तन हुआ है।

इस प्रकार अर्थ परिवर्तन की कई दिशाएँ हैं। परन्तु प्रोफेसर ह्विटने ने अर्थ परिवर्तन को बड़ी सुगमता से हल कर दिया है। उनके अनुसार अर्थ परिवर्तन की सभी दिशाएँ साधारणीकरण और असाधारणीकरण अर्थात् सामान्य और विशेष में आती हैं। और कुछ उपचार के (ज्ञात से अज्ञात की व्याख्या) अन्तर्गत आ जाती हैं। जिससे भाषा-भण्डार समृद्ध होता है।

प्रश्न १६—अर्थ-परिवर्तन के कारण बतलाइए।

प्रत्येक शब्द अपने साथ अर्थ लेकर आता है। यदि शब्द शरीर है तो अर्थ उसका प्राण तत्व या आत्मा है। शब्द सार्थक ही होने चाहिएँ। निरर्थक शब्दों का समूह तो कोरी प्रलाप मात्र है। सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ-साथ भाषा में परिवर्तन आता है। शब्दार्थ विकसित होते हैं ध्वनि परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन इतनी धीमी गति से

होता है कि कालान्तर में उसका स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। गँवारू शब्द पहले गाँव में रहने वाले के लिए प्रयुक्त होता था परन्तु आज उसका प्रयोग असभ्य असंस्कृत के लिए होता है। पहले मृग शब्द सारे पशु समाज के लिए प्रयोग में आता था परन्तु अब इसका विस्तार कम हो गया है। अब मृग केवल 'हिरन' के लिए प्रयुक्त होता है। ऐसे ही साहसी और तैल शब्द की कथा है। 'पशु' शब्द का इतिहास और भी मनोरंजक है। कहने का भाव यह है कि परिवर्तन अमोघ, स्वाभाविक तथा अचूक है। शब्दार्थ परिवर्तन नदी की अस्थायी धारा है जो सतत् बहती है, गतिशील रहती है। शब्दार्थ परिवर्तन कई कारणों से, कई दिशाओं में होता है।

कारण—

बल प्रयोग या बल का अपसरण—किसी शब्द के उच्चारण में जब एक शब्द पर हम जोर देते हैं, तो दूसरी समकक्षी ध्वनियाँ कमजोर पड़ जाती हैं। इसी प्रकार अर्थ में बल प्रधान पक्ष से हटकर कमज़ोर पक्ष पर पड़ जाता है। गोस्वामी शब्द पहले गायों के स्वामी के लिए प्रयुक्त होता था परन्तु अब उससे हटकर माननीय धार्मिक व्यक्ति के लिए हो गया है। यहीं एक और भावना कार्य करने लगी वह यह कि जो अधिक गायों की सेवा करेगा, धर्मपरक भावना रखेगा वही गोस्वामी कहलायेगा। इस प्रकार बल अपसरण से गोस्वामी शब्द "गायों के स्वामी" से "माननीय, धार्मिक" माना जाने लगा। यही शब्द मध्ययुगीन सन्तों के साथ लगता है जैसे गोस्वामी तुलसीदास। अरबी शब्द 'गुलाम' और अंग्रेजी Knave शब्द में भी बल अपसरण हुआ है। पहले इसका अर्थ 'लड़का' लिया जाता था पर अब अपकर्ष होकर गुलाम—दास या सेवक के रूप में लिया जाता है।

पीढ़ी परिवर्तन के कारण—कई बार पीढ़ी परिवर्तन के कारण भी अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। इसका कारण यह है कि मनुष्य कभी भी

पूर्ण और शुद्ध रूप में अनुकरण नहीं कर सकता। उसके अनुकरण में कमी रह जाती है। नयी पीढ़ी के लोग पुरानी पीढ़ी का अनुकरण करते हैं तो स्वाभावतः ही अन्तर आने लगता है। पत्र शब्द का इतिहास बड़ा मनोरञ्जक है। आरम्भ में लिखने की उचित सामग्री के न होने से लोगों ने पत्र या पत्ते पर लिखना शुरू किया। कुछ समय तक इस प्रकार चलता रहा। जब दूसरी पीढ़ी आई तो उसने सोचा कि जिन पर कुछ लिखा जाता है वही पत्र है। आगे चलकर भोज वृक्ष की छाल को लिखने के काम में लाया गया। जिसे भूर्जपत्र कहते हैं। आज भी सोने और चाँदी के पत्तर होते हैं। आज पत्र पतलेपन का भी सूचक है इसी प्रकार तैल, कुशल आदि शब्दों का इतिहास है।

प्रकरण विभिन्नता—एक ही शब्द के अनेक अर्थ होते हैं परन्तु प्रसंगानुकूल प्रकरण के आधार पर उस शब्द का वैसा ही अर्थ लिया जाता है। जब कोई व्यक्ति किसी वाक्य में विशेष शब्द का व्यवहार करता है तब वह उसे अनेक अर्थों के होते हुए भी एक ही अर्थ में लाता है। रसोई में बैठा हुआ रसोइया 'सैन्धवम् आनय' पर नमक के लिए ही कहेगा, घोड़े के लिए नहीं। ऐसे समय पर इसका 'नमक' वाला अर्थ ही प्रधान है, घोड़े वाला अर्थ लुप्त हो गया है।

हर एक व्यक्ति एक शब्द को उसी अर्थ में नहीं लेता जिस अर्थ में दूसरा। जितनी जनसमुदाय की घनिष्ठता कम होती जायेगी उतना अर्थ में परिवर्तन आता जायेगा। संस्कृत में विहार शब्द विचरण करना होता है। पालि में वही निवास स्थान के लिए—जैसे बौद्ध विहार। इसी प्रकार हिन्दू शब्द भी अर्थ विभिन्नता से प्रयुक्त होता है मुसलमान हिंसक, झगड़ालू और डाकू के लिये।

शरणार्थी बटवारे के समय शब्द निकला था परन्तु अब हर एक पंजाबी शरणार्थी ही कहलाता है चाहे वह कितने व्यक्तियों को शरण दे।

वातावरण के परिवर्तन के कारण

वातावरण में परिवर्तन के कारण भी कई बार अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। वातावरण भी कई दृष्टिकोणों से देखा जाता है। कई बार भौगोलिक वातावरण के परिवर्तन ही से अर्थ में परिवर्तन आता है। एक स्थान का शब्द दूसरे स्थान पर पहुँच कर अर्थ बदल लेता है। जैसे अंग्रेजी में Corn साधारण अनाज के लिए प्रयुक्त होता है परन्तु अमेरिका में Corn शब्द मक्का के लिए लिया जाता है। संस्कृत में उष्ट्र जंगली बैल के लिए प्रयुक्त होता है परन्तु हिन्दी में उष्ट्र विशेषतः ऊँट पशु के लिए ही आता है। कई बार सामाजिक वातावरण के बदलने से भी शब्दार्थ में परिवर्तन आ जाता है। Mother और Sister का अर्थ साधारणतः माँ और बहन होता है। परन्तु गिरजाघर में Mother ईसाई उपदेशिका के लिए तथा अस्पतालों में Sister नर्स के लिए प्रयुक्त होता है। सभा में व्याख्यान देने पर भाइयो और बहिनो दूसरा ही अर्थ रखते हैं। कई बार प्रथा-सम्बन्धी परिवर्तन आने पर शब्दार्थ बदल जाता है। पहले यजमान यज्ञ करने वाले पण्डित के लिए प्रयुक्त होता था परन्तु अब यजमान बुरे निम्न जाति के लोगों के लिए प्रयुक्त होता है।

साधारण व्यवहार में आने वाले शब्द—कई बार दैनिक व्यवहार में आने वाले शब्दों के अर्थों में परिवर्तन हो जाता है। माली क़लम शब्द को और अर्थ में, बच्चे लिखने वाले दूसरे अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। अध्यापक का बेंत, कुरसी का बेंत, शाम को टहलने वालों का बेंत, एक दूसरे से भिन्न अर्थ रखता है। सिपाही की बन्दूक की गोली, जहर की गोली, अफीम की गोली, धागे की गोली, फिनायल की गोली, बच्चे की खाने वाली मीठी गोली सब भिन्न अर्थ रखती हैं। इस प्रकार दैनिक व्यवहार में आने वाले अनेकों शब्द प्रसंगानुसार अपने अर्थ में बदल कर प्रयुक्त होतें हैं।

अशोभन के शोभन शब्दों का प्रयोग—कई वार अशुभ सूचक शब्दों को सीधे न कहकर भिन्न रूपों में कहने का प्रयत्न करना चाहिये। इस विषय में स्त्रियों के पास सुन्दर भाषा रहती है। वे सभ्य शब्दों में बोलने का प्रयत्न करती हैं। जैसे किसी स्त्री के वैधव्य को देखकर कहना, चूड़ी फूटना, सिर का सिन्दूर पूंछना, आदि। किसी श्रद्धेय व्यक्ति के मर जाने पर हम कहते हैं—स्वर्गवास होना, पंचत्व को प्राप्त होना, कटुता की सूचना देने वाले शब्द जैसे सांप सूंघना, गश खाकर गिरना, चेचक के लिये शीतला माता आदि का। लाश के लिये मिट्टी का प्रयोग करते है। उर्दू में वोलने वाले सभ्य समाज में "वह बीमार है" को कहते हैं उसके दुश्मनों की तबीयत नासाज़ है।

अश्लीलता सूचक—अश्लीलता सूचक भावों में असभ्य शब्दों को न वोलकर सभ्य शब्द कहे जाते हैं। जैसे गर्भिनी को प्रत्यक्ष न कहकर कहते हैं—"पांव भारी होना।" पाखाना जाने को—निवृत्त होना, वाहर जाना, निवटने जाना, फारिग होना आदि। आजकल तो हँसी मजाक में इसके लिये कई शब्द प्रयुक्त होते हैं जैसे पाकिस्तान जाना विलायत जाना आदि।

कभी-कभी शिष्टाचारवश सीधे शब्द नहीं वोले जाते, कभी-कभी सीधा कहने से दूसरे को वही शब्द सभ्यता के विरुद्ध प्रकट होते हैं। अतः अन्धे को अन्धा न कहकर सूरदास कहा जाता है। चमार को रामदास, मेहतर को जमादार आदि।

नम्रता प्रदर्शन के कारण शब्द के अर्थ में परिवर्तन आ जाता है। जैसे आपका दौलतखाना कहाँ है (घर)। कभी-कभी हमारे गरीवखाने में भी पधारिये। इसी प्रकार अन्नदाता तो आप हैं। हजूर, श्रीमान् आदि शब्द नम्रता के सूचक हैं। देवताओं के भोजन को 'भोग' तथा अवि-शिष्ट को प्रसाद कहते हैं। उनके चरणधोवन को चरणामृत कहते हैं।

व्यंग्य के कारण भी कई वार शब्दों के अर्थ वदल जाते हैं। फिर वे शब्द उसी अर्थ में प्रचलित होने लगते हैं। साहित्यिक भाषा में या

बोलचाल में कई बार ऐसे शब्द आते है। जैसे—पूरे पण्डित, या पूरे देवता एक मूर्ख या चालाक को कहा जाता है। इसी प्रकार झूठ बोलने वाले को "आप तो पूरे युधिष्ठिर हैं।" किसी अभागे दुःखी को आप तो भाग्य के पूर्ण साथी हैं। अत्यन्त दीन को लक्ष्मी का पति कहना तथा किसी कुरूप को कामदेव का भाई कहना सभी व्यंगार्थ ही हैं।

कई बार आलंकारिक भाषा का प्रयोग भी किया जाता है। इससे शब्दार्थ में परिवर्तन आ जाता है। कभी-कभी स्थूल अथवा प्रत्यक्ष वस्तुओं और उनके अवयवों के चित्र को स्पष्ट करने के लिये अलंकारों का प्रयोग किया जाता है। मानव अपने भाव को स्पष्ट करने के लिये निर्जीव वस्तुओं का आश्रय लेकर आलंकारिक भाषा बोलता है कड़े हृदय वाले को 'पत्थर दिल, या पाषाण-हृदय', जिसका कुछ निश्चय न हो उसे 'बिना पैंदी का लोटा', अधिक पतले आदमी को 'हाथी' कहना, कोई काम बिगड़ने पर कहते हैं "वाह बेटा वाह !" निखट्टू को कमाऊ पूत, कुलटा के लिये 'सती साध्वी, सावित्री', अधिक सोने वाले को 'कुम्भकरण', लड़ाई कराने वाले को 'नारदमुनि' कह देते हैं। आलंकारिक भाषा के कारण अर्थ में विस्तार पर्याप्त आ जाता है—टेढ़ा आदमी, मीठी बात और ठोस कार्य आदि आलंकारिक प्रयोग है। जलना साधारण दाह को कहते हैं परन्तु आलंकारिक रूप में हृदय की जलन, विरह की अग्नि, क्रोध को पीना, लहू के घूंट पीना, छाती पर साँप लोटना आदि अलंकारिक रूप हैं। ऐसे अनेकों मुहावरे हैं, जिनसे भिन्न अर्थ व्यञ्जित होता है।

कई बार स्नेहातिशय भी अर्थ परिवर्तन का कारण बनता है। प्यार में बाप-बेटे को सूअर, गधा, बदमाश कह बैठते हैं। अत्यन्त घनिष्ठ सम्पर्क के कारण चपलतावश शब्दार्थ परिवर्तन होता है। शैतान, दुष्ट, पगली आदि शब्दों का प्रयोग होता है कभी-कभी क्रोध में पागल होकर राक्षस, पाजी, बच्चू आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। फ्रेंच और बँगला में ऐसे कई शब्द पाये जाते हैं। इस प्रकार भाव-प्रवणता के कारण भाषा में बड़ी शीघ्रता से परिवर्तन होता है।

व्यक्तिगत योग्यता के कारण भी अर्थ में परिवर्तन आता है। एक दार्शनिक ईश्वर का अर्थ कुछ और लेता है तथा भक्त कुछ और। शून्य शब्द का अर्थ दार्शनिक निर्गुणवादी के लिए कुछ और होगा—वैज्ञानिक के लिए कुछ और, गणितज्ञ के लिए कुछ और अर्थ देगा और साधारणत: शून्य का भिन्न अर्थ लिया जाता है।

इसी प्रकार किसी एक वर्ग के नामकरण के लिए सम्पूर्ण वर्ग का नामकरण कर दिया जाता है। कई बार पुनरावृत्ति भी अर्थ में परिवर्तन कर देती है कलाकारों और कवियों की निरंकुशता के कारण भी शब्द का मनमाना तोड़-मरोड़ होता है और उनका मनमाना अर्थ लिया जाता है।

कई बार भाषान्तर हो जाने से शब्दार्थ में परिवर्तन हो जाता है। जैसे दरिया—ईरानी में नदी को, गुजराती और मराठी में दरिया नदी और समुद्र दोनों के लिए प्रयुक्त होता है। केवल भावना के कारण हिन्दू मुसलमान के लिए काफिर अर्थ कह देता है। मुण्डा भाषा में पिल्ला आदमी के बच्चे को कहते हैं परन्तु भारतीय घृणा के कारण पिल्ला कुत्ते के बच्चे को कहते हैं। फारसी में मुर्ग का अर्थ पक्षी है पर हिन्दी में मुर्ग पक्षी विशेष को कहते हैं। संस्कृत में वाटिका बाग को कहते हैं। हिन्दी में बगीचा और बँगाली में यही शब्द मकान के लिए प्रयुक्त होता। हिन्दी के नीले रंग को गुजराती में हरा रंग समझते हैं।

प्रश्न १७—बौद्धिक नियमों को स्पष्ट रूप में समझाइए।

भाषा में दो प्रकार से धीरे-धीरे परिवर्तन होता है। कुछ काल के पश्चात् ध्वनि और अर्थ में विशेष परिवर्तन दीख पड़ता है। जब अर्थानुसार परिवर्तन होता है तो हम उसे अर्थ के विचार से नियमों में स्थिर कर लेते हैं। परन्तु उनका कारण बुद्धिगत होता है। अत: उन्हें बौद्धिक नियमों में रखते हैं। जब केवल अर्थों में विकार आता है तब उनमें अर्थ के विकारों के कारणों की विवेचना होती है, अत: उन्हें अर्थ-विकार कहा जाता है।

बौद्धिक नियम हमारी लौकिक बुद्धि को सन्तुष्ट करता है। ये नियम सार्वकालिक और सार्वदेशीय नहीं होते। जो बात लौकिक बुद्धि पर स्थिर है, वह हमारे व्यक्तिगत संस्कारों से परिवेष्टित है। अतः हम कुछ समान अर्थ वाले शब्दों में भी अन्तर कर लेते हैं। जैसे गबिन और गर्भिनी शब्दों में तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं परन्तु बौद्धिक नियम के आधार पर दोनों में प्रसंगानुसार अर्थ भेद है। यहाँ अर्थ के विचार से अर्थ में परिवर्तन हुआ है। इन नियमों का सम्बन्ध एक काल की विभिन्न भाषाओं से भी होता है और विभिन्न कालों में आने वाली एक ही भाषा से भी होता है। वास्तव में संस्कारों के कारण जो स्तर हमारे मन का बन जाता है उसको हम एकाएक नहीं बदल सकते जैसे 'स्तन' और 'थन' शब्द का अर्थ भले ही एक है परन्तु हमारी लौकिक बुद्धि इनका एक ही अर्थ एक ही प्रसंग में लेने पर क्रियमान नहीं होगी। अतः अर्थ के विचार से अर्थ भेद करना ही पड़ेगा।

ध्वनि नियम इनसे भिन्न विकारों के आधार पर बने हैं। इनमें हम उच्चारण सम्बन्धी विकारों का अध्ययन करते हैं। ध्वनियों के विकार ध्वनि पर आश्रित हैं। ये नियम विशेष काल और विशेष क्षेत्र की सीमा में बँधे रहते हैं। जिस प्रकार बौद्धिक नियमों का आधार मानसिक है उसी प्रकार ध्वनि नियमों का आधार भौतिक है।

बौद्धिक नियम आठ हैं :—

१. भेदीकरण का नियम २. विशेष भाव का नियम ३. मिथ्या प्रतीति का नियम ४. उपमान का नियम ५. उद्योतन का नियम ६. नये लाभ का नियम ७. अनुपयोगी रूपों का विकास। और ८. विभक्तियों के भग्नावशेष का नियम।

१. भेदीकरण का नियम—धात्वर्थ के अनुसार अथवा किसी ऐतिहासिक कारण से जो शब्द पर्यायवाची प्रतीत होते हैं वे शब्द जब व्यवस्थित प्रक्रिया के द्वारा भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होने लगते हैं तभी भेदीकरण का नियम लगता है। वास्तव में उन्नति के पथ में भेद भाव का रहस्य

छिपा रहता है। मानसिक उन्नयन और संस्कारों की पुष्टि के होने के कारण हम समानार्थी शब्दों के अर्थों में भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेद स्पष्ट करने लगते हैं। इसे Law of differentiating कहते हैं। यह नियम तब लागू होता है जब बहुत से एक जैसे शब्द इकट्ठे हो जाते हैं। जो वस्तुएँ और उनके नाम पहले उच्च प्रतीत होते थे वही मानसिक स्तर के उन्नत होने पर कालान्तर में असभ्य या भद्दे प्रतीत होते हैं। यथा—डाक्टर, हकीम, वैद्य, कविराज आदि यद्यपि पर्यायवाची हैं परन्तु सूक्ष्म अन्तर सभी में है। जिस प्रकार तत्सम और तद्भव शब्दों में भेदीकरण का नियम पाया जाता है वैसे ही तत्सम और देशी शब्दों में भी। 'बच्चा' शब्द के लिये कई भिन्नार्थक शब्द हैं—गाय के बच्चे को बछड़ा, घोड़े के बच्चे को बछेड़ा, भैंस के बच्चे को पड़वा, कुत्ते के बच्चे को पिल्ला कहते हैं। एक ही धातु से निःसृत धातु भी कई वार भिन्नार्थक होते हैं। एक ही अंग के कई वार भिन्न नाम होते हैं सीना, छाती, वक्ष, नाक, सूंड, चोंच आदि।

भेदीकरण की प्रवृत्ति का विकास मस्तिष्क और संस्कृति के उन्नयन के साथ होता है जैसे—आपके दर्शन के लिये ही आया था—बैठिये विराजिये—आसन अलंकृत कीजिये—आदि का भाव एक ही है परन्तु मस्तिष्क का उन्नयन उत्तरोत्तर है। चरण-रज, चरणधूलि, गर्द आदि में, प्रेम-प्रणय, प्यार-मुहब्बत आदि में, उस्ताद, उस्ताद जी, प्रोफेसर और मास्टर आदि में अर्थसाम्य होते हुए भी प्रयोग में भिन्नता है। प्रतिष्ठित व्यक्तियों के लिये प्रतिष्ठित शब्दों का ही प्रयोग होता है। यदि किसी सामान्य व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है तो हम कहते हैं कि अमुक व्यक्ति मर गया है। परन्तु जब किसी महान् आत्मा के लिये कहना होगा तो हम कहेंगे 'स्वर्गवास हो गया है'।

भेदीकरण का नियम किन्ही विशेष सीमाओं तक ही चलता है। यह नियम विद्यमान सामग्री में ही कार्य करता है। कुछ सामग्री का उत्पादन नहीं करता।

२. विशेषभाव का नियम—इस नियम में समष्टि से व्यष्टि या अनेक से एक की ओर झुकने की प्रवृत्ति है। कहने का भाव यह है कि जब एक ही अर्थ को व्यक्त करने वाले बहुत से समानार्थक शब्द समाज में प्रयुक्त होने लगते हैं तो समाज किसी एक शब्द की ओर अधिक ध्यान देने लगता है और दूसरे शब्द भाषा के स्तर से विलग से होते प्रतीत होने लगते हैं। यही विशेष भाव का नियम कहलाता है। पहले ईयस-ईष्ठ-तर-तम, प्रेयस और श्रेयस सभी समानार्थक प्रत्यय संस्कृत में तुलनात्मक बोध के लिये प्रयुक्त होते थे। परन्तु मानव की विशेष भाव की प्रवृति होने से इन सब प्रत्ययों का लोप हो गया। 'तर' और 'तम' का ह्रास हुआ और 'म' केवल रह गया। इसी प्रकार ईयस और ईष्ठ प्रत्यय भी सीमित रह गये। अब प्रथम, सप्तम—इत्यादि संख्या वाचक हो गया है वैसे इसका रूप 'प्रथत्तम' जैसा कुछ होना चाहिये था।

इसी प्रकार हिन्दी के भाषा व्याकरण में इनका विचार ही नहीं होता। उदाहरणतया कई वार हम कहते हैं—"वह सम्बन्ध और भी घनिष्ठ हो गया" या "उसका काम तुमसे अधिक उत्तम है।"

इससे यूं कहा जा सकता है कि जब सामाजिक आकर्षण किसी विशेष भाव पर टिक जाता है तथा कुछ एक शब्दों पर टिक कर शेष शब्दों की अवहेलना करने लग जाता है तभी विशेष भाव का नियम कहलाता है।

३. मिथ्या प्रतीति का नियम—कभी-कभी भ्रम वश भिन्न अर्थ का भान होने लगता है। तब हम प्रत्यय अथवा शब्द के पीछे उसी अर्थ को प्रतीति करने लगते हैं। पहले स्वर और बल के कारण ऐसे रूप बन गये थे पर अब उनमें व्याकरण वाली द्योतकता आ गई है। पहले Oxen शब्द (एंग्लो-सेसन युग में) एकवचन में प्रयुक्त होता था परन्तु अब मिथ्या-प्रतीति या भ्रम के कारण Ox एक वचन में और Oxen बहुवचन में प्रयुक्त होने लगा है। Charries, peace पहले एकवचन थे। भ्रम से यह बहुवचन समझे जाने लगे। एकवचन में प्रयुक्त हुए

Charry और pea। तात्पर्य यह कि ऐसी उत्पत्ति भी भ्रामक उत्पत्ति का कारण बनती है।

इसी भ्रामक उत्पत्ति के कारण अर्थोत्कर्ष और अर्थापकर्ष भी हो जाता है। जैसे 'असु' शब्द का अपकर्ष हुआ है। पहले असु का अर्थ प्राण होता था परन्तु कालान्तर में असुर अर्थ अ+सुर अर्थात्, जो देवता नहीं बल्कि राक्षस के रूप में प्रयुक्त होने लगा है। वैसे ही साहसी शब्द का उत्कर्ष हुआ है। साहसी का अर्थ पहले डाकू के लिये प्रयुक्त होता था परन्तु अब साहसी का अर्थ अदम्य उत्साह के लिये लिया गया है।

४. **उपमान का नियम**—यह नियम भेद को मिटाने तथा नये शब्द को सरल से सरल ढंग से गढ़ने में सहायक होता है। मुख्यतः चार बातों में उपमान का नियम लगता है।

१. भाव प्रकाशन की कठिनाई दूर करने के लिये।

२. अधिक स्पष्टता के लिये।

३. किसी विषय अथवा सादृश्य पर जोर देने के लिये।

४. प्राचीन अथवा नवीन नियम से संगति मिलाने के लिये।

पहले उत्तम पुरुष वर्तमान काल के दो प्रत्यय थे, 'मि' और 'ओ' परन्तु उपमान के प्रभाव से धीरे-धीरे यह भेद मिट गया। संस्कृत में लोगों ने 'मि' को अपनाया और ग्रीक में 'ओ' को। संस्कृत में 'अस्मि' की बराबरी का 'एह्मि' मिलता है। संस्कृत का आवाम्-युवाम्, अवाम् युवम् दोनों प्रचलित रूप हैं। संस्कृत के कर्मन् मनम् और पेयस् हिन्दी में क्रमशः कर्म, मन और पय बने। इस प्रकार उपमान का नियम शब्दों के बनाने और विनाश करने में सहायक होता है।

५. **उद्योतन का नियम**—रूपों के साथ किसी विशेष अर्थ का जुड़ना और उसके परिणामस्वरूप किसी द्योतक शब्द का उदय होना यह प्रक्रिया उद्योतन कहलाती है। शब्द के साथ प्रत्यय लगाते ही उसमें एक प्रकार की चमक पैदा होती है। जैसे—अमीर से अमीरी, साहब से साहबी, मुनीम से मुनीमी, इसके साथ ही अमीरी ठाठ, साहबी ठाठ, मुनीमी ढंग,

नवाबी चाल, आदि कहने से शब्द में चमक पैदा हो जाती है। संस्कृत में 'आ' या 'ई' लिंग के द्योतक होते हैं परन्तु हिन्दी में वही स्त्री प्रत्यय दूसरे प्रकार के संसर्ग में आकर पुलिंग के बड़प्पन के सूचक बन जाते हैं—जैसे धोती, मौसी, घंटी, मटकी पुस्तक से एक दम बड़प्पन के सूचक धोता, मौसा, घंटा, मटका और पोथा हो जाते हैं। इससे इन शब्दों में पुरुषत्व का बोध होता है।

कभी-कभी उद्योतन में प्रकृति का प्रत्यय बन जाता है। जैसे पश्चात् का पाश्चात्य, पूर्व का पौर्वात्य, दक्षिण का दाक्षिणात्य आदि।

६. नये लाभ का नियम—जब विभक्तियाँ किसी कारणवश लुप्त हो जाती हैं; तब भी उनका अस्तित्व किसी न किसी रूप में मस्तिष्क में विद्यमान रहता है। इसी कारण से वे विभक्तियाँ भाषा में मिलकर एक हो जाती हैं जैसे—कुछ शब्द परम्परा के अनुसार बने 'देवात्, हठात्' आदि। वाक्य अथवा पद में शब्द का स्थान पाकर जैसे—**मुआ** बैल, **सोया** आदमी, **गया** वक्त। इनमें गया और सोया गतः और सुप्तः के ही रूप हैं। कभी-कभी प्राचीन रूप साहित्यिक भाषा अथवा बोलियों में ही प्रयुक्त होते हैं; जैसे—घरे, गाँवें, खेते आदि। कई बार विभक्तियों के स्थान पर परसर्ग भी जोड़ा जाता है। जैसे 'मैंने खाया' से 'मैं खाया' पहले में कर्ता का चिह्न है तो दूसरे में कारक का। परन्तु यह परिवर्तन विशिष्ट अर्थ का प्रतिपादन करने के लिए हुआ है।

भेदीकरण के नियम के समान ही इस विभक्तिशेष के नियम की सीमा है। जब शेष बची हुई विभक्तियाँ अप्रसिद्ध हो जाती हैं, तब उनका नाश स्वयं ही हो जाता है। विभक्तियों के भग्नावशेष का नियम यही है कि पुरानी भाषा की बची विभक्तियाँ नवीन भाषा की शोभा होती हैं।

७. नये लाभ का नियम—जहाँ भाषा में एक ओर कुछ अंगों और अंशों का नाश होता है वैसे ही कुछ नये रूपों और अर्थों का विकास होता है। ब्रेअल ने अपनी मान्यता के अनुसार कृदन्त, क्रिया विशेषण

कर्मवाच्य तथा अव्यय को इसी विकास की नई प्राप्ति के रूप में माना है। क्रिया विशेषण तो अभी हाल का ही रूप है। अव्यय और कृदन्त क्रिया के सबसे नये रूप हैं। ब्रेअल का कहना है कि कोई भी संज्ञा या विशेषण का रूप जब अपनी विभक्ति को छोड़ देता है तो क्रिया विशेषण का रूप कहलाने लगता है। हिन्दी में और बँगला में काल और परसर्ग नई वस्तु है। संस्कृत में उपसर्ग और सम्बन्ध वाचक भी नये हैं।

उदाहरणार्थ 'चिरम् आगत्य' में विभक्ति का लोप करके 'देर से आया हुआ' कहने से विशेषण का रूप कहा जा सकता है। कस्मात् से अकस्मात्, ब्रह्मचारी, विश्वविद्यालय आदि नये ही शब्द हैं।

८. **अनुपयोगी रूपों का विनाश**—जब एक ही अर्थ के कई वाचक शब्द काम में आने लगते हैं तो धीरे-धीरे कुछ का विनाश हो जाता है और एक दो अर्थ ही उस शब्द के शेष रह जाते हैं। जैसे संस्कृत में देखना क्रिया के लिए वैदिक काल में दो धातुएँ थीं स्पृश और दृश। परन्तु अब केवल दृश्य ही शेष रह गया है। 'पश्य' उसका आदेश माना जाता है। इसी प्रकार गच्छामि जगाम्, अगमत् आदि शब्दों का निर्माण हुआ है।

भारतीय आर्य-भाषा की क्रिया का इतिहास भी इन्हीं का ही प्रमाण है। संस्कृत में तीन वचन हैं परन्तु हिन्दी में आकार एकवचन और बहुवचन ही रह गया, द्विवचन नष्ट हो गया। तस्मात् तस्मिन्, सस्मात् सस्मिन् में केवल तस्मात् तस्मिन् ही रह गये हैं। संज्ञा शब्दों में भी विभक्तियों की एक रूपता इसी विनाश के कारण है।

प्रश्न १८—ध्वनि का वर्गीकरण कीजिए और उसका आधार बतलाइए।

भाषा विज्ञान की दृष्टि से ध्वनियों का वर्गीकरण सामान्यतः उच्चारण-रीति की दृष्टि से श्वास और नाद में किया जाता है। कंठ-पिटक में दो ओठों के समान स्वर-तन्त्रियाँ स्थित होती हैं, उनके बीच में जो

अवकाश होता है, उसे काकल अथवा ग्लाटिस कहते हैं। ये स्वर तन्त्रियाँ रबर की भाँति स्थिति-स्थापक होती हैं। जब ये स्वर-तन्त्रियाँ मिली रहती हैं और हवा धक्का देकर उनके बीच से निकलती है, तब जो ध्वनि उत्पन्न होती है उसे ध्वनि कहते हैं। जब स्वर-तन्त्रियाँ दूर रहती हैं और हवा उनके बीच से निकलती है तब जो ध्वनि उत्पन्न होती है उसे श्वास कहते हैं। काकल की विभिन्न अवस्थाओं में फुसफुसाहट वाली ध्वनि भी उत्पन्न होती है जिसे जपति अथवा उपांशु-ध्वनि भी कहते हैं।

ये ध्वनियाँ मुख से किस प्रकार बाहर निकलती हैं इस दृष्टि से इनके स्वर और व्यंजन दो भेद किये गए हैं। जब स्वर-यन्त्र के तार, वीणा के तारों की भाँति आपस में झंकृत होकर भीतर से आती हुई श्वास को विकृत करते हैं तब घोष उत्पन्न होता है। सभी स्वरों में इस घोष की स्थिति रहती है। ध्वनि-विज्ञान के अनुसार स्वर वह सघोष ध्वनि है जिसके उच्चारण में श्वास-नालिका से आती हुई श्वास अबाध गति से मुख से निःसृत हो जाती है और मुख विवर में ऐसा कोई संकोच नहीं होता कि किंचित्मात्र भी संघर्ष या स्पर्श हो। स्वर के अतिरिक्त शेष सभी ध्वनियाँ व्यंजन होती हैं। व्यंजन वह सघोष या अघोष ध्वनि है जिसके मुख विवर से निकलने में पूर्ण रूप से अथवा कुछ मात्रा में बाधा होती है, स्वरों के उच्चारण में थोड़ा बहुत स्पर्श अथवा घर्षण अवश्य होता है। व्यंजन की अपेक्षा स्वर अधिक दूर तक श्रवणेन्द्रियों से सम्बन्धित रहता है। इसी कारण व्यंजनों का उच्चारण स्वरों के सहयोग से ही होता है। स्वर तो सभी नाद होते हैं पर व्यंजन कुछ नाद और कुछ श्वास होते हैं। सामान्य नियम के अनुसार एक ही उच्चारण स्थान से बोले जाने वाले 'नाद' का प्रतिवर्ण श्वास अवश्य होता है; जैसे—

स्थान	नाद	श्वास
कण्ठ	ग	क
तालु	ज	च

का उच्चारण केवल दो ओठों के सहयोग से ही होता है। यथा—'प' और 'फ'।

(८) जिह्वामूलीय—हिन्दी की कुछ विशेष ध्वनियाँ जैसे—क़, ख़, ग़, जिह्वामूल से उच्चरित होती हैं।

यदि उच्चारण की प्रकृति और प्रयत्न के अनुसार व्यंजनों पर विचार किया जावे तो उनके निम्न रूप से आठ वर्ग किये जा सकते हैं—

(१) स्पर्श—जिसमें अवयवों का एक दूसरे से पूर्ण स्पर्श होता है। पहले मुख में हवा रुक जाती है और फिर वह एक झोंके से धक्का देकर बाहर निकलती है। इसी से एक स्फोट की ध्वनि होती है; जैसे—'क' अथवा 'प'।

(२) घर्ष—(अथवा संघर्षी) वर्ण के उच्चारण में वायुमार्ग एक स्थान पर इतना संकीर्ण हो जाता है कि हवा के बाहर निकलने में सर्प की सी शीत्कार अथवा उष्म ध्वनि होती है। इसमें जिह्वा और दन्तमलू अथवा वर्त्स का मार्ग खुला रहता है। स, ष, 'श' 'ज' आदि घर्ष वर्ण होते हैं।

(३) स्पर्श-घर्ष—इसमें वर्णों के उच्चारण में स्पर्श होता है परन्तु हवा थोड़ी रगड़ खाकर निःसृत होती है—जैसे च, छ, ज, झ।

(४) अनुनासिक—जिस वर्ण के उच्चारण में कोमल तालु (Soft-palate) इतना झुक जाता है कि हवा नासिका से निकल जाती है। जैसे हिन्दी का 'न' 'म'।

(५) पार्श्विक—जिसके उच्चारण में हवा मुख के मध्य में रुक जाने से जीभ के अगल बगल से (पार्श्व से) बाहर निकलती है वह वर्ण पार्श्विक होता है; जैसे हिन्दी का 'ल' अथवा अंग्रेजी का 'L'।

(६) लुण्ठित—ध्वनि में जीभ की नोंक मसूढ़े पर जाती है, पर वहाँ दो तीन बार जल्दी-जल्दी श्वास को रोककर छोड़ देती है। इसमें जीभ बेलन की तरह लपेट खाकर तालु को स्पर्श करती है। जैसे हिन्दी या अंग्रेजी की 'र' ध्वनि।

(७) उत्क्षिप्त—उन ध्वनियों को कहते हैं जिनमें जीभ तालु के किसी भाग को वेग से मारकर हट जावे जैसे 'ढ़' 'ड़'।

कुछ ऐसे वर्ण भी होते हैं, जो साधारणतया व्यंजन व्यवहृत होते हैं। पर कभी-कभी स्वर भी हो जाते हैं; जैसे हिन्दी 'य' और 'व' ऐसे व्यंजन अर्ध स्वर भी कहे जा सकते हैं।

मुख विवर से अवाध रूप से निकल जाने वाली अघोष ध्वनि को स्वर कहते हैं। फुसफुसाहट वाले स्वरों का भी महत्वपूर्ण स्थान है। स्वर वर्णों में विशेष गुण जिह्वा और होठों की अवस्थाओं से उत्पन्न होते हैं। सुस्पष्ट स्वरों की उच्चारण स्थिति पर विचार करने से जिह्वा की प्रधान तीन अवस्थाएँ होती हैं। यदि 'आ' को जीभ की सबसे नीची अवस्था मान लिया जाये तो जीभ 'ई' के उच्चारण में आगे की ओर ऊँचे उठती है, और 'ऊ' के उच्चारण में पीछे की ओर ऊँचे उठती है। इस प्रकार जिह्वा उच्चारण के समय कहाँ रहती है इस विचार से स्वरों के अग्र मध्य और पश्च तीन भेद किये गये हैं। यह जिह्वा की आड़ी स्थिति है।

जिह्वा की खड़ी स्थिति पर विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि जिस स्वर के उच्चारण में जीभ विना किसी की रगड़ खाये यथा-सम्भव ऊँची उठ जाती है उस स्वर को संवृत कहते हैं और जिस स्वर के उच्चारण में जीभ यथासम्भव नीचे की ओर आती है उसे विवृत कहते हैं। इन दोनों स्थानों के वीच के अन्तर को चार भागों में विभक्त किया गया है—संवृत, ईषत-संवृत, ईषत-विवृत और विवृत। उदाहरणार्थ अग्र, मध्य और पश्च के उदाहरण क्रमशः 'ईख', 'रईस' और ऊपर शब्दों में 'ई' और 'अ' 'ऊ' हैं। संवृत, ईषत-संवृत, ईषत-विवृत और विवृत के उदाहरण क्रमशः 'ऊपर', 'अनेक' 'बोतल' और 'आम' में 'ऊ' 'ए' 'ओ' और 'आ' हैं।

स्वरों का गुण ओठों की स्थिति पर भी निर्भर रहता है। जिन स्वरों के उच्चारण में ओठों की आकृति गोल सी हो जाती है वे गोल

अथवा वृत्ताकार स्वर कहलाते हैं और शेष अवृत्ताकार जैसे 'ऊ' वृत्ताकार और ई, आ आदि अवृत्ताकार अक्षर हैं।

मांसपेशियों की शिथिलता और दृढ़ता के विचार से भी स्वरों में विभिन्नता पाई जाती है। इस प्रकार स्वर शिथिल और दृढ़ माने गये हैं। जैसे 'ई' और 'ऊ' दृढ़ स्वर हैं, तथा 'इ' और 'उ' स्वर शिथिल हैं परन्तु दीर्घ 'ई' के उच्चारण में वह भाग दृढ़ हो जाता है।

कोमल तालु का भी स्वर-गुण पर प्रभाव पड़ता है। साधारण स्वरों के उच्चारण में कंठ अर्थात् कोमल तालु उठकर गल-विल की भित्ति से जा लगता है। इसलिए नासिका विवर वंद हो जाता है और ध्वनि केवल मुख से निकलती है। परन्तु जब कोमल तालु थोड़ा नीचे आ जाता है तब हवा मुख और नासिका दोनों में से निकलती है। ऐसी स्थिति में उच्चरित स्वर अनुनासिक कहे जाते हैं।

ध्वनियों के वर्गीकरण को उपयुक्त अनुशीलन करने के पश्चात् यह सार रूप से कहा जा सकता है कि ध्वनियों के वर्गीकरण के मुख्य सिद्धान्त निम्न रूप से हैं—

(१) **स्वर-तन्त्रीय प्रयत्न**—इसके अनुसार ध्वनियों के घोष और अघोष दो वर्ग हो जाते हैं। हिन्दी ध्वनियों में सभी स्वर, पंच स्पर्श वर्गों के अन्तिम तीन व्यंजन (ग घ ङ, ज झ ञ आदि) तथा ह य र, ल व घोष हैं। शेष सभी अघोष हैं।

(२) **आभ्यान्तर प्रयत्न** (Degree of opeuness) इसके अनुसार ध्वनियों के स्वर और व्यंजन दो वर्ग हो जाते हैं। इसके पश्चात् स्वर के अग्र, मध्य, पश्च, तथा संवृत, अर्द्ध संवृत और अर्द्ध विवृत आदि भाग हो जाते हैं। दूसरी ओर व्यंजन के स्पर्श, स्पर्श-संघर्षी, अनुनासिक, पार्श्विक, लुण्ठित, उत्क्षिप्त और संघर्षी भेद होते हैं।

(३) **उच्चारण स्थान**—इसके आधार पर ध्वनियों के स्वर यंत्र-मुखी, जिह्वा-मूलीय, कंठ्य, मूर्द्धन्य, वर्त्स्य, तालव्य, दन्त्य, दन्त्योष्ठ्य और द्वयोष्ठ्य आदि भेद होते हैं।

(४) अनुनासिक—लगभग सभी स्वरों और व्यंजनों का अनुनासिक रूप भी हो सकता है। साधारणतया अनुनासिक व्यंजनों तथा स्वरों के उच्चारण के समय कंठ-पिटक (कौआ) सीधा खड़ा होकर नासिका विवर की ओर श्वास नहीं जाने देता, अतः पूरा श्वास मुख विवर से निःसृत होता है। स्वरों तथा व्यंजनों को अनुनासिक रूप देने के लिए कण्ठ-पिटक इस प्रकार वीच में आ जाता है कि थोड़ा श्वास नासिका से तथा थोड़ा मुख से निकलता है। इस प्रकार उनके उच्चारण में अनुनासिकता आ जाती है।

इन ध्वनियों के अतिरिक्त कुछ ऐसी ध्वनियाँ भी होती हैं जिनमें श्वास को भीतर खींचते समय उच्चारण किया जाता है। ये क्लिक ध्वनियाँ कहलाती हैं। ये ध्वनियाँ अफ्रीका की कई भाषाओं में कुछ पाई जाती हैं। परन्तु बुशमैन परिवार की भाषाओं में तो इनका प्राधान्य है। भारोपीय भाषाओं में भी क्लिक ध्वनियों की स्थिति पाई जाती है। प्रागैतिहासिक काल में तो इन ध्वनियों का प्राधान्य था परन्तु धीरे-धीरे अव उनका लोप हो गया है। आज एक ध्वनि है जो प्रत्येक राष्ट्र और प्रत्येक जाति में लगभग एक ही प्रकार से उच्चरित की जाती है और प्रत्येक जाति में लगभग एक ही प्रकार उसका अर्थ भी सर्वत्र एक-सा है। यह ध्वनि 'चुम्बन' की है जिसका अर्थ प्यार होता है। यह भी एक प्रकार की क्लिक ध्वनि है। भारोपीय कुल की अनेक भाषाओं में सन्तोष, घृणा, क्रोध, दुःख आदि भावों के प्रकाशन के लिए क्लिक ध्वनियों का अव भी प्रयोग होता है।

हिन्दी भाषा में भी क्लिक ध्वनियों का प्रयोग होता है। काँटा गड़ जाने पर अथवा साधारण चीर फाड़ में 'सी' ध्वनि द्वारा दुःख प्रकट किया जाता है। किसी भी मार्मिक और करुणा पूर्ण गाथा को सुनकर हम करुणा पूरित होकर सहसा 'च च च च च' कहना आरम्भ कर देते हैं। जव कोई वस्तु रुचिपूर्ण नहीं लगती तव भी अनमनस्कता के साथ

प्रत्येक व्यक्ति अस्वीकृति का भाव प्रकट करते हुए एक प्रकार की 'टिक' या 'टक' ध्वनि करता है। ये सभी ध्वनियाँ क्लिक हैं।

बुशमैन परिवार की भाषाओं में क्लिक ध्वनियों का प्राधान्य होता है अतः उन्हें भी वर्गीकृत किया गया है। ये ध्वनियाँ छः प्रकार की होती हैं जिनमें से (१) मूर्द्धन्य, (२) तालव्य, (३) पार्श्विक, (४) दन्त्य तथा (५) ओष्ठ् प्रधान होती हैं, और इनके लिये क्रमशः !, I, II, I, तथा O ध्वनि चिह्नों का प्रयोग होता है। वर्गीकृत ध्यनियों में जब एक ध्वनि दूसरी से मिलती है तो उसे संयुक्त ध्वनि कहते हैं। ध्वनि-संयोग संयुक्त-ध्वनि से भिन्न होती है। संयुक्त ध्वनि में दो ध्वनियाँ एक सी मिलती हैं, यथा चक्का (क्+क)। परन्तु ध्वनि संयोग में दो ध्वनियाँ केवल आस-पास आ जाती हैं, यथा आदमी 'आदमी' 'आ' और द पास पास हैं इस प्रकार ध्वनियों का यह विस्तृत वर्गीकरण हुआ है।

प्रश्न १६—व्यञ्जनों का वर्गीकरण कीजिए।

ध्वनियाँ मुख से किस प्रकार निकलती हैं इसका विचार करते हुए उनके स्वर और व्यञ्जन दो भेद किये जाते हैं। जब किसी नाद-ध्वनि को मुख में से निकालने में कोई रुकावट नहीं होती और न निश्वास किसी प्रकार की रगड़ खाती है तब वह ध्वनि स्वर कहलाती है। स्वरों के अतिरिक्त शेष ध्वनियाँ व्यञ्जन कहलाती हैं। स्वरों में किसी प्रकार का घर्षण या स्पर्श नहीं होता। पर व्यञ्जनों के उच्चारण में स्पर्श और घर्षण अवश्य होता है। इसी कारण स्वर-तन्त्रियों से उत्पन्न 'शुद्ध नाद' ही स्वर माने जाते हैं।

यह स्वर और व्यञ्जन का भेद वास्तव में श्रोता के आधार पर ही किया जाता है। स्वरों में श्रवण-गुण या श्रवणीयता अधिक होती है। 'क' की अपेक्षा 'अ' अधिक दूर तक स्पष्ट सुनाई पड़ता है इसीलिये व्यञ्जनों का उच्चारण स्वरों के बिना नहीं हो सकता।

व्यञ्जनों का विचार दो प्रकार से ही हो सकता है। (१) उनके उच्चारणोपयोगी अवयवों के अनुसार। (२) उनके उच्चारण की

रीति या ढंग के अनुसार। यदि उच्चारणोपयोगी अवयवों के अनुसार विचार करें तो व्यञ्जनों के आठ मुख्य भेद माने जाते हैं—काकल्य, कंठ्य, मूर्धन्य, तालव्य, वर्त्स्य, दंत्य, ओष्ठ्य और जिह्वामूलीय।

काकल्य—उस ध्वनि को कहते हैं जो काकल स्थान में उत्पन्न हो। जैसे हिन्दी में 'ह' और अंग्रेजी में H.।

कंठ्य—यह ध्वनि कंठ से उत्पन्न होती है। कंठ से यहाँ तालु के उस अन्तिम कोमल भाग का अर्थ लिया जाता है जिसे अंग्रेजी में Soft palate अथवा Velum कहते हैं। जब जिह्वा मध्य कोमल तालु का स्पर्श करती है तब कंठ्य ध्वनि का उच्चारण होता है। जैसे—क, ख।

मूर्धन्य—कठोर तालु के पिछले भाग और जिह्वाग्र से उच्चरित वर्ण जैसे ट, ठ, ष आदि। अंग्रेज़ी में मूर्धन्य ध्वनियाँ होती ही नहीं।

तालव्य—कठोर तालु और जिह्वोपाग्र से उच्चरित ध्वनि जैसे अंग्रेजी में J और हिन्दी में च, छ, ज।

वर्त्स्य—तालु के अन्तिम भाग, ऊपरी मसूड़ों और जिह्वानीक से उच्चरित वर्ण जैसे न अथवा 'न्ह'। दंतमूल के ऊपर जो उभरा हुआ स्थान रहता है उसे वर्त्स्य कहते हैं।

दन्त्य—ध्वनियाँ उपर के दांतों की पंक्ति और जिह्वानीक से उच्चरित होती हैं। हिन्दी में त, थ, द, ध आदि। दन्त्य के कई उपभेद होते हैं—पूरोदन्त्य, अन्तर्दन्त्य और पश्चादन्त्य। हिन्दी में 'त' पुरोदन्त्य और 'च' अर्न्तदन्त्य होता है। अंग्रेजी के 'त' और 'द' दन्तमूलीय होते हैं।

ओष्ठ्य—इन वर्णों का उच्चारण बिना जिह्वा की विशेष सहायता के होठों द्वारा होता है। इनके भी दो भेद हैं—द्वयोष्ठ्य और दंतोष्ठ्य।

द्वयोष्ठ्य—हिन्दी में 'प' और 'फ' वर्णों का उच्चारण द्वयोष्ठ्य से होता है।

दन्तोष्ठ्य—हिन्दी में 'फ' और 'व' का उच्चारण नीचे के होठ और ऊपर के दांतों द्वारा होता है।

जिह्वामूलीय—हिन्दी में कुछ ऐसी विदेशी ध्वनियाँ भी आ गई हैं जो जिह्वामूल से उच्चरित होती हैं। जैसे—क़, ख़, ग़। इन्हें जिह्वामूलीय कहते हैं।

उच्चारण की रीति या ढंग के अनुसार भी व्यंजनों का वर्गीकरण किया जा सकता है। इससे तात्पर्य यह है कि व्यंजनों का शरीरावयव किस प्रकार उच्चारण करते हैं। इस दृष्टि से व्यंजनों के आठ भेद किये जाते हैं। स्पर्श वर्ण वे हैं जिनके उच्चारण में अवयवों का एक दूसरे से पूर्ण स्पर्श होता है। पहले मुख में हवा बिल्कुल रुक जाती है और फिर एक झोंके में वह धक्का देकर बाहर निकलती है, इसी से एक स्फोट की ध्वनि होती है। जैसे—'क' अथवा 'प'।

घर्ष—वर्ण के उच्चारण में वायुमार्ग किसी एक स्थान पर इतना संकीर्ण हो जाता है कि हवा के बाहर निकलने में सर्प की जैसी शीत्कार अथवा ऊष्म ध्वनि होती है। इस प्रकार इन वर्णों के उच्चारण में जिह्वा और दंतमूल अथवा वर्त्स के बीच का मार्ग खुला रहता है वह बिल्कुल बन्द नहीं हो जाता। इसी से हवा रगड़ खाकर निकलती है अतः इसे घर्ष या विवृत व्यंजन कहते हैं। इनके उच्चारण में हवा कहीं रुकती नहीं इसी से इन वर्णों को सप्रवाह अव्यहान, अथवा अनवरुद्ध भी कहते हैं। स, श, ष, ज आदि ऐसे घर्ष वर्ण हैं।

स्पर्श-घर्ष—कुछ वर्ण ऐसे होते हैं जिनके उच्चारण में स्पर्श तो होता है पर साथ ही हवा थोड़ी रगड़ खाकर इस प्रकार निकलती है कि उसमें ऊष्म ध्वनि भी सुन पड़ती है। इसे स्पर्श-घर्ष कहते हैं।

अनुनासिक—जिस वर्ण के उच्चारण में किसी एक स्थान पर मुख बन्द हो जाता है। पर कोमल तालु इतना झुक जाता है कि हवा नासिका में से निकल जाती है। अनुनासिक व्यंजन न, म हैं।

पार्श्विक—जिसके उच्चारण में हवा मुख के मध्य में रुक जाने से जीभ के बगल से निकलती है। जैसे हिन्दी में 'ल'।

लुँठित—उन ध्वनियों को कहते हैं जिनके उच्चारण में जीभ वेलन की तरह लपेट खाकर तालु को छुए—जैसे 'र'।

उत्क्षिप्त—उन ध्वनियों को कहते हैं जिनमें जीभ तालु के किसी भाग को मारकर हट जावे जैसे ड़ और ढ़।

इन सात प्रकार के व्यंजनों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी वर्ण होते हैं जो साधारणतया व्यंजनवत् व्यवहृत होते हैं पर कभी-कभी स्वर हो जाते हैं। हिन्दी में 'य' और 'व' ऐसे व्यंजन अर्धस्वर कहे जाते हैं। अनुनासिक पार्श्विक लुँठित कभी-कभी एक ही वर्ग में रखे जाते हैं। ये सब द्रव वर्ण कहलाते हैं। कुछ लोग अर्द्धस्वरों (इ ऊ) को भी द्रव वर्ग में रखते हैं क्योंकि इन सब में एक सामान्य गुण यह है कि ये यथा समय स्वर का भी काम करते हैं :—

हिन्दी व्यंजनों का वर्गीकरण

	द्वयोष्ठ्य दन्तोष्ठ्य	दन्त्य	वर्त्स्य	तालव्य	मूर्द्धन्य	कण्ठ्य	जिह्वा-मूलीय	काकल्य अथवा उरस्य
स्पर्श	प ब	त द			ट ड	क ग	क़	
घर्ष	फ भ फ़	थ ध			ढ ठ	ख घ	ख़, ग़	ह, ह
स्पर्शघर्ष	व		स, ज,	श				
अनुनासिक	म		न	ञ	ण	ङ		
पार्श्विक	म्ह		न्ह ल					
लुण्ठित			ल्ह र					
अर्द्धस्वर	व		(र ह)	य	ड़			
उत्क्षिप्त					ढ़			

प्रश्न २०—भाषण-ध्वनि और ध्वनि-मात्र का अन्तर स्पष्ट कीजिए।

सामान्य परिभाषा के अनुसार भाषा ध्वनि-संकेतों का समूह मात्र है। इसी से ध्वनि में वर्ण शब्द और भाषा सभी का अन्तर्भाव हो जाता है। ध्वनि का यह बड़ा व्यापक अर्थ है परन्तु सामान्यतः वर्ण के लिए ही ध्वनि का व्यवहार होता है। यही अर्थ हिन्दी भाषा-भाषियों द्वारा भी लिया जाता है। ध्वनि से ध्वनिमात्र, भाषण-ध्वनि, और वर्ण अर्थात् ध्वनि-सामान्य तीनों का अर्थ लिया जाता है। वर्ण का तो सामान्य अर्थ वही है जो वर्णमाला में समझा जाता है परन्तु भाषण-ध्वनि और ध्वनि-मात्र का अर्थ पारिभाषिक है। भाषण अवयवों द्वारा उत्पन्न निश्चित् श्रवण-गुण वाली ध्वनि भाषण-ध्वनि में कोई भेद अथवा अन्तर नहीं हो सकता। किसी भी गुण के कारण यदि ध्वनि में किन्चित भी विकार उत्पन्न होता है, तो वह क्रिया ध्वनि एक दूसरी ही ध्वनि कही जाती है। इससे परीक्षा द्वारा जो भाषण-ध्वनि का रूप और गुण निश्चित हो जाता है वह स्थिर और सिद्ध हो जाता है। कई भाषाओं में इस प्रकार की भाषण-ध्वनि बहुत अधिक होती है। पर उन सभी के लिए पृथक्-पृथक् न तो लिपि संकेत ही होते हैं और न उनका होना अत्यावश्यक ही समझा जाता है। क्योंकि कई ध्वनियाँ संबद्ध भाषण में विशेष स्थान में ही प्रयुक्त होती हैं। उसका वर्गीकरण ऐसी दूसरी ध्वनि के साथ होता है जिनका उनसे कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रहता। प्रायः ऐसी अनेक भाषण-ध्वनियों के लिए एक ध्वनि-संकेत का व्यवहार होता है। ऐसी सजातीय ध्वनियों के कुल को ध्वनि-मात्र अथवा ध्वनि-श्रेणी कहते हैं। यदि शास्त्रीय विधि से कहें तो ध्वनिमात्र किसी भाषा-विशेष की ऐसी सम्बन्धी ध्वनियों को कहा जाता है, जिन ध्वनियों का स्थान एक सम्वद्ध भाषण में अन्य कोई ध्वनि नहीं ले सकती। इस प्रकार ध्वनि-मात्र एक जाति है; जिसमें अनेक भाषण-ध्वनियाँ होती हैं। प्रत्येक भाषण-ध्वनि की एक अलग सत्ता या व्यक्तित्व होता है। दोनों में प्रधान भेद यही है कि एक ध्वनि-मात्र कई स्थानों में सामान्य रूप से व्यवहृत होती है पर

भाषण-ध्वनि में शक्ति-वैचित्र्य रहता है। एक भाषण-ध्वनि के स्थान-विशेष में दूसरी भाषण-ध्वनि नहीं आ सकती। इस प्रकार यह बात स्पष्ट हो जाती है कि व्यवहार और शिक्षा का सम्बन्ध उस सामान्य ध्वनि से रहता है जिसे ध्वनि-मात्र कहते हैं और जिसके लिए लिखित संकेत भी रहता है। पर भाषण ध्वनि शास्त्र और विज्ञान के ही काम में आती है। ध्वनि-यंत्रों द्वारा उसकी प्रत्येक लहर की परीक्षा होती है। उसके गुण का निश्चय होता है। इस प्रकार भाषण-ध्वनियों का विशेष प्रयोजन प्रयोगात्मक और परीक्षात्मक ध्वनि शिक्षा में ही होता है। तो भी ध्वनि के सामान्य शास्त्रीय अनुशीलन के लिए भी ध्वनि-मात्र और भाषण-ध्वनि का भेद स्पष्ट समझ लेना चाहिए।

उदाहरणार्थ 'जल्दी' और माल्टा में दो 'ल' ध्वनियाँ हैं। परीक्षा करके ध्वनि और भाषा के विशेषज्ञों ने यह निश्चय किया है कि पहला 'ल' दंत्य है और दूसरा 'ल' ईषत् मूर्धन्य है। कहने का भाव यह है कि भाषण दोनों शब्दों में 'ल' का उच्चारण एकसा नहीं होता। अतः ध्वनिमात्र तो एक ही है परन्तु भाषण-ध्वनियाँ दो हैं। इसी 'ल' का महाप्राण रूप में उच्चारण भी हो सकता है। जैसे 'कल' ही में 'ल' पहले दोनों 'ल' के समान अल्पप्राण नहीं है। प्रत्युत स्पष्ट महाप्राण है। वही 'ल' तिलक शब्द में सर्वथा मूर्धन्य है। यद्यपि हिन्दी अथवा उर्दू में 'ल' मूर्द्धन्य नहीं होता, वह दंतमूल अथवा वर्त्स से उच्चरित होता है पर मराठी में तिलक शब्द में 'ल' आने पर उसमें मराठी मूर्द्धन्य वाला उच्चारण ही होता है। ये सब एक 'ल' ध्वनिमात्र की भिन्न-भिन्न भाषण ध्वनियाँ हैं। एक दूसरे उदाहरण को भी लिया जा सकता है। 'अ' वर्ण के दो भेद माने जाते हैं। एक संवृत 'अ' दूसरा विवृत 'अ'। ये दो ध्वनि-मात्र हैं। पर एक संवृत 'अ' की भी वक्ता के भाषणावयवों में भेद होने से तथा भिन्न-भिन्न स्थलों में प्रयुक्त होने से अनेक भाषण ध्वनियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। यद्यपि साधारण श्रोता का कान इस सूक्ष्म अन्तर में भेद स्थापित नहीं कर सकता तथापि वैज्ञानिक परीक्षा

उन सब ध्वनियों को भिन्न मानती है। व्यवहार में ध्वनि मात्र ही स्पष्ट रहती है। अतः संवृत्त 'अ' के लिए एक चिह्न रख लिया जाता है। अंग्रेजी का एक उदाहरण लीजिए Keel और Call में 'क' एक ही ध्वनिमात्र है। परन्तु भाषण ध्वनि दो भिन्न-भिन्न हैं। कील में जो 'क' ध्वनि है वह 'ई' के पूर्व में आई है। वहाँ काल वाली 'क' ध्वनि नहीं आ सकती। इसी प्रकार King और queen में भी वही एक 'क' ध्वनिमात्र है। पर पहले में 'क' तालव्य है और दूसरे में शुद्ध कण्ठ्य 'क' है। इस बात को और स्पष्ट करने के लिए बँगला की ध्वनियों को लीजिए। बँगला की एक 'न' ध्वनि-मात्र के प्रयोगानुसार भाषण में चार भेद हो जाते हैं। पहला 'न' वर्त्स्य है परन्तु त और द के बीच में वही 'न' दंत्य हो जाता है। ट और ड के पूर्व में ईषत् मूर्द्धन्य हो जाता है। च तथा ज के पूर्व में वही ईषत् तालव्य हो जाता है। इन सब भेदों में भी एकता है और उसे ही ध्वनिमात्र कहते हैं। इसी सामान्य ध्वनि के लिए एक संकेत भी बना लिया गया है। भिन्न-भिन्न स्थलों में 'न' की परवर्त्ती ध्वनियों से ही 'न' का सूक्ष्म भेद प्रकट हो जाता है। इसी प्रकार फ और 'भ' में भी एक ही 'ह' ध्वनि का मिश्रण सुन पड़ता है। पर वास्तव में 'फ' में श्वास और अघोष 'ह' है। तथा 'भ' में नाद और घोष 'ह' है। इस प्रकार ध्वनि-मात्र और भाषण ध्वनि में जाति और व्यक्ति का अथवा कुटुम्ब तथा कुटुम्बी का सम्बन्ध मान लेने पर यह प्रश्न उठता है कि ध्वनि-मात्र का अर्थ-ध्वनि-कुल, ध्वनि-श्रेणी अथवा ध्वनि-जाति से अधिक स्पष्ट हो जाता है तब क्यों न वैसा ही कोई शब्द विकार कर लिया जाये। वास्तव में ध्वनि-मात्र संज्ञा उस प्रकरण में प्रयुक्त होती है जहाँ भाषा के उच्चारण, रचना और अर्थ अर्थात् ध्वनि, रूप और अर्थ-शक्ति इन तीनों पक्षों अथवा अंगों का विश्लेषण और विवेचन किया जाता है। एक पक्ष कहता है, भाषा ध्वनिमय है। दूसरा पक्ष कहता है रूप ही भाषा का प्रयोजन है भावों और विचारों का व्यवहार-विनिमय। यह तभी संभव होता है जब श्रोता भाषा की रूप-रचना

समझता है। भाषा के अंगों में, उसके शब्दों में जो अर्थ प्रकाशन की शक्ति रहती है, वह तभी समझ में आती है, जब उन शब्दों की रचना हमारे सम्मुख आ जाती है। अतः विचार करके देखा जाय तो ध्वनि-मात्र रूप और अर्थ का आविर्भाव और ध्वनि-जाति का अन्तर्भाव दोनों होता है। अतः ध्वनि और वर्ण का पर्याय के समान और भाषण ध्वनि और ध्वनि-मात्र का परिभाषिक अर्थ के समान प्रयोग करना चाहिए।

प्रश्न २१—ध्वनि-परिवर्तन की दिशाएँ बताइए।

किसी भी जीवित सत्ता को स्थायी रखने के लिए आवश्यक है कि उसमें विकास और परिवर्तन होता रहे। परिवर्तन जीवन का मूल है। जिस प्रकार जीवन की अवस्था कभी भी एक जैसी नहीं रहती, उसी प्रकार भाषा भी कभी स्थायी नहीं रहती। उसमें भी परिवर्तन होते रहते हैं। भाषा के परिवर्तित होने से उसकी ध्वनियों में भी परिवर्तन होता रहता है। शब्दों के प्रयोगों में कई प्रकार के परिवर्तन कालान्तर में हो जाते हैं। यद्यपि ये परिवर्तन होते हुए दिखाई नहीं देते, परन्तु उनकी अभिव्यक्ति कालान्तर में अनुभव होती है। ध्वनि परिवर्तन को (Phonetic Changes) कहते हैं। ये ध्वनियाँ परिवर्तनशील हुआ करती हैं। क्योंकि सामान्य परिभाषा के अनुसार भाषा ध्वनि संकेतों का समूह मात्र है। अतः भाषा के विकास के साथ-साथ ध्वनियों में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। भाषा में यह ध्वनि परिवर्तन अनेक दिशाओं में होता है।

१. लोप—कभी-कभी भाषा में शीघ्रता के कारण और स्वराघात के कारण कई प्रकार का ध्वनियों में परिवर्तन होता है। कभी-कभी परिवर्तन लोप के रूप में बदल जाता है। यह लोप दो प्रकार का होता है। कभी-कभी स्वर का लोप होता है और कभी-कभी व्यञ्जन का लोप होता है। इस प्रकार पहले को स्वर लोप और दूसरे को व्यञ्जन लोप

कहते हैं। इन दोनों के तीन-तीन भेद हैं। आदिलोप, मध्यलोप और अन्तलोप से ध्वनि में विकार उत्पन्न होते हैं।

आदि स्वर लोप—अनाज=नाज, अभ्यान्तर=भीतर।
अपि=भी।

मध्य स्वर लोप—गावाश=गावश।
कपड़ा=कप्ड़ा।

अन्त स्वर लोप—पार्श्व=पास, आम्र=आम।

मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा काल के अन्त में संस्कृत के दीघ स्वर आ–ई–ऊ प्राकृत शब्दों के अन्त में पाये जाते थे पर आधुनिक काल के प्रारम्भ में ही ये ह्रस्व स्वर हो गये थे। धीरे-धीरे अब लुप्त हो गये।

आदि व्यञ्जन लोप अधिकांश में प्राकृतों में पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त अंग्रेजी इरानी आदि भाषाओं में भी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। अंग्रेजी के उच्चारण आदि में आदि व्यञ्जन लोप हो चुका है परन्तु लिखने में अभी पूर्व रूप ही चलता है। जैसे Knife=nife, Know=now, Knight=night आदि। हिन्दी और संस्कृत में भी आदि व्यञ्जन लोप होता है।

आदि व्यञ्जन लोप—श्मशान=मशान, स्तारा=तारा।
स्थान=थान, श्चन्द्र=चन्द्र।

मध्य व्यञ्जन लोप—हिन्दी में—सूची=सूई, घरद्वार=घरवार।
उत्तान=उतान

हिन्दी की ग्रामीण बोलियों में भी मध्य व्यञ्जन लोप होता है।
जैसे—वुद्ध=बुध, डाकिन=डाइन, उपवास=उपास।
अंग्रेजी में भी मध्य व्यञ्जन लोप उच्चारण से स्पष्ट होता है।
जैसे—walk, daughter, right, night।

अन्त व्यञ्जन लोप—सत्य=सत, उष्ट्र=ऊँट
निम्ब=नीम आदि।

२. आगम—आगम लोप के विपरीत होता है। इसमें नई ध्वनि के आगम के कारण ध्वनि में परिवर्तन हो जाता है। यह आगम प्रायः या तो उच्चारण सुविधा के कारण होता है, या मुखसुख के कारण। लोप के समान इसमें आदि आगम, मध्य आगम और अन्त आगम है और साथ में ही यह आगम स्वर और व्यञ्जन दोनों में होता है। फ्रेंच और फारसी के प्रायः सभी शब्दों में स्वरागम होता है। हिन्दी और अंग्रेजी में प्रायः यह प्रवृत्ति देखने को मिलती है।

आदि स्वरागम—स्कूल = इस्कूल, स्नान = अस्नान
स्तुति = अस्तुति। वारना = उवारना।

अज्ञान, आलस्य या मुखसुख के कारण कई बार मध्यस्वरागम हो जाता है। इसे स्वर भक्ति भी कहते हैं। पंजाबी जब हिन्दी शब्दों का उच्चारण करते हैं तो मध्य स्वरागम बहुत होता है।

जैसे—प्रसाद = परसाद, पूर्व = पूरब
धर्म = धरम, सप्रिङ्ग = सपरिङ्ग। शब्द = शबद।

ये सब मध्य स्वरागम के उदाहरण हैं। संस्कृत में भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं जैसे—पृथ्वी = पृथिवी, स्वर्ण = सुवर्ण आदि। ये सब मध्य-स्वरागम ही हैं। अन्तस्वरागम का प्रयोग बहुत कम पाया जाता है। स्वप्न = सपना, प्रिय का पिय' सोच = सोचु आदि रूपों में अन्त में स्वर का आगम हुआ है।

आदि व्यञ्जनागम के उदाहरण अत्यल्प पाये जाते हैं। परन्तु फिर भी इसके कुछ उदाहरण मिलते हैं जिनके कारण ध्वनि-विकार हो जाता है। जैसे—ओष्ट = होठ, अस्थि = हड्डी आदि।

मध्य व्यंजनागम के कई उदाहरण मिलते हैं। उदाहरणार्थ आलसी = आलकस, शाप = श्राप, लाश = लहाश।

इसी प्रकार गुजराती का अमदावाद = अहमदावाद बन जाता है। अन्त व्यंजनागम में कल = कल्ह, भौं = भौंह, उमरा = उमराव, परवा = परवाह, देह = देहान्त आदि बन जाता है।

३. वर्ण-विपर्यय—विपर्यय की प्रवृत्ति सभी भाषाओं में पाई जाती है। जब किसी शब्द में स्वर व्यंजन तथा अक्षर एक स्थान से दूसरे स्थान पर चला जाता है अथवा दूसरे का स्थानापन्न हो जाता है तब शब्द-विपर्यय या वर्ण-विपर्यय कहलाता है। विपर्यय का अर्थ वदल जाना होता है। विपर्यय स्वर और व्यंजन में पार्श्ववर्ती और दूरवर्ती होता है। उदाहरणार्थ कछु = कुछ, फाटक = फटका, चिह्न = चिन्ह, ब्राह्मण = बाम्हन, लखनऊ = नखलऊ, नारिकेल = नालिकेर, चाकू का काचू आदि रूप बनते हैं।

४. समीकरण—समीकरण में शब्द में एक ध्वनि दूसरी ध्वनि को प्रभावित करती है। एक वर्ण दूसरे वर्ण को प्रभावित करता है और उसको सजातीय ही बना जाता है। समीकरण का कार्य सावर्ण्य बनाना या सजातीय बनाना है। समीकरण के दो रूप होते हैं पुरोगामी और पश्चगामी। इनमें से प्रत्येक के पार्श्ववर्त्ती और दूरवर्ती रूप होते हैं।

दूरवर्ती पुरोगामी समीकरण में दो दूर-दूर की ध्वनियाँ एक दूसरी को प्रभावित करती हैं। भ्रष्ट = भरसट (ग्रामीण भाषा में) तथा विलयन विलवना बन जाता है। इसके उदाहरण भाषाओं में बहुत कम मिलते हैं। पार्श्ववर्ती पुरोगामी में ध्वनिपरिवर्तन एक दूसरे के सर्वथा निकट आ जाता है। जैसे—चक्र = चक्क, तक्र = तक्क। दूरवर्ती पश्चगामी समीकरण में ध्वनियाँ एक दूसरे को प्रभावित करती हैं तथा एक दूसरे को सजातीय बना लेती हैं। उदाहरणार्थ नील = लील, खरकट = करकट, लड़कियों = लकड़ियों आदि। पार्श्ववर्ती पश्चगामी समीकरण में कर्म का कम्म, धर्म = धम्म या दुग्ध = दुद्ध बना जाता है।

५. विषमीकरण—विषमीकरण समीकरण की बिल्कुल विपरीत स्थिति है। इसमें एक ही शब्द में दो समान ध्वनियाँ उच्चरित होने लगती हैं। धीमे-धीमे दोनों में एक लुप्त हो जाती है और दूसरी उसी प्रकार की ही बनी रहती है। जब प्रथम वर्ण ज्यों का त्यों रहता है और दूसरा परिवर्तित होता है तब पुरोगामी विषमीकरण कहलाता है। जैसे—

कंकरण = कंगन, काक = काग, जब द्वितीय वर्ण ज्यों का त्यों रहता और प्रथम वर्ण ही केवल परिवर्तित होता है तो पश्चगामी विषमीकरण कहते हैं जैसे मुकुट = मेडर, नूपुर = नेडर । इसी प्रकार पुरोगामी व्यंजन विषमीकरण के उदाहरण भी मिलते हैं और पश्चगामी व्यंजन विषमीकरण के उदाहरण भी मिलते हैं ।

६. **अक्षर लोप**—जिस प्रकार वर्ण का लोप होता है, उसी प्रकार अक्षर लोप भी होता है । यह अक्षर लोप तीन प्रकार का होता है । पहले प्रकार का अक्षर लोप तब होता है जब एक ही शब्द में दो समान अक्षर एक साथ आ जाते हैं तो प्रायः एक अक्षर का लोप होता है । आदि अक्षर लोप के उदाहरण काफी मिलते हैं जैसे—शहतूत = तूत, त्रिशूल = शूल । मध्य अक्षर लोप में मध्य अक्षर का लोप होता है । कभी वह अक्षर स्वर होता है कभी व्यंजन होता है । उदाहरणार्थ—भंडागार = भंडार, शेववृध = शेवृध आदि हो जाता है । अन्त अक्षर लोप भी इसी प्रकार होता है जैसे माता = माँ, भ्रतृजाया = भावज, मौक्तिक = मोती आदि ।

७. **भ्रामक उत्पत्ति**—विदेशी भाषाएँ भारतीय भाषा में बहुत घुल-मिल गई हैं । जब विदेशी शब्दों का व्यवहार साधारण या अशिक्षित् जनता के द्वारा होता है तो वे उसको इच्छानुसार उल्टा-सीधा करके बोलते हैं । वे अपना काम चलाने के लिए और अर्थ-बोध करने के लिए गलत उच्चारण भी कर लेते हैं । यह भी मुखसुख अथवा प्रयत्न-लाघव के कारण होता है । जैसे Library = रायबरेली, Ludlow लड्डू, University का यूनीवस्ती जैसे शब्दों का प्रयोग ग्रामीण लोग करते हैं ।

८. **स्वर भक्ति**—जिस समय दो संयुक्ताक्षर इकट्ठे बोले जाते हैं उस समय उन्हें बोलने के लिए अधिक प्रयत्नशील रहने की आवश्यकता होती है । मुखसुख की प्रवृत्ति के कारण मन अपने आप उस असुविधा को दूर करता है और उस संयोग के बीच में कोई नयी ध्वनि लाकर

रख देता है, इसी को स्वर-भक्ति कहते हैं। कई बार दो व्यञ्जनों का संयोग दूर होता है और कई बार दो स्वरों का। संस्कृत से जब भाषा प्राकृत में परिवर्तित हुई तब शब्दों में स्वर-भक्ति की प्रवृत्ति विशेष रूप से दिखाई दी। उदाहरणार्थ कृष्ण = प्रा० कसण, भक्त् = भगत, इन्द्र = इन्दर संस्कृत के पंजाबी उच्चारण में यह प्रवृत्ति बहुत मिलती है। तैरना = तहेरना, वक्क = वांका, दरसन = दंसन।

कभी-कभी दो स्वरों के बीच में व्यञ्जन रखने के उदाहरण भी मिलते हैं। जैसे—

अपस्ति उत्तिरागां पदं = अपस्सिगुत्ति णणापदं।

संधि और एकीभाव—भाषा में अनेक ध्वनि परिवर्तन सन्धि द्वारा होते हैं। कभी-कभी शब्दों के उच्चारण में बीच में विवृति रहती है, जो सन्धि द्वारा विकार उत्पन्न करती है। कुछ व्यंजन उच्चारण में स्वर के समीप होने के कारण स्वर में परिवर्तित हो जाते हैं और फिर अपने से पहले व्यंजन में मिल जाते हैं। उदाहरणार्थ—नयन शब्द में अ और य के बीच विवृति है। इसके मिटा देने पर सन्धि हो जाने से "नयन" का 'नेन' रूप बन जाता है। इसी प्रकार चामर का चँवर बन जाता है। इस प्रकार के संधिज विकारों का ध्वनि परिवर्तन में बहुत महत्त्व है। अनुनासिकता के कारण ध्वनि में कई बार मुखसुख से परिवर्तन होता है, उदाहरणार्थ—सर्प = साँप, उष्ट्र = ऊँट, भ्रू = भौं बन जाता है। इन रूपों में अनुनासिकता स्वाभाविक रूप से ही आ गई है।

उष्मीकरण—कई बार ध्वनियाँ उष्म व्यंजनों के कारण बदल जाती हैं। ऐसे परिवर्तन केन्टुम और शतम् वर्ग की ध्वनियों में होते हैं।

मात्रा भेद—के द्वारा होने वाले ध्वनि परिवर्तन ह्रस्व से दीर्घ हो जाते हैं और दीर्घ से ह्रस्व हो जाते हैं। ये परिवर्तन कुछ सुविधाजनक होते हैं। संस्कृत का 'भक्तुः' अपभ्रंश में "भत्तु" और हिन्दी में 'भात'

वन गया है। इसी प्रकार मृत्यु का मिच्चु और मीचु बना। खट्वा का खट्टा और खाट बना। यह दीर्घ करने की प्रवृत्ति मराठी में अधिक मात्रा में पाई जाती है। सम्प्रदाय, मदन और रथ आदि तत्सम शब्द मराठी में साम्प्रदाय, मादन और राथ हो जाते हैं। पूर्वी हिन्दी, बंगला, मराठी और गुजराती में यह प्रवृत्ति बहुत मात्रा में पाई जाती है। मात्रा का भेद बल और आघात के कारण भी होता है। मीठा से मिठास भीख से भिखारी भी मात्रा भेद के कारण बन गया है।

घोषीकरण और अघोषीकरण—कई बार सुविधा के लिए अघोष ध्वनियाँ घोष हो जाती हैं और घोष ध्वनियाँ अघोष हो जाती हैं। अघोषीकरण की प्रवृत्ति पैशाची प्राकृत में अधिक मात्रा में मिलती है।

उदाहरणार्थ— घोषीकरण } शाक = शाग, प्रकाश = प्रगाश, कंकण = कंगन

अघोषीकरण } मेघ = मेख
वारिद = वारित
अदद = अदत्

महाप्राणीकरण और अल्पप्राणीकरण—जहाँ महाप्राण ध्वनियाँ होती हैं, वहाँ अल्पप्राण ध्वनियाँ बन जाती हैं। जहाँ अल्पप्राण ध्वनियाँ होती हैं, वहाँ महाप्राण ध्वनियाँ बन जाती हैं। ग्रासमान के नियम में ऐसे उदाहरण मिलते हैं—

महाप्राणीकरण } शुष्क = सूखना
हस्त् = हाथ
वेष = भेस
गृह = घर

अल्पप्राणीकरण—धुहिता = दुहिता
भोधामि = बोधामि
धधामि = दधामि।

अपिश्रुति—जहाँ स्वर, अर्धस्वर या भाषा की प्रवृत्ति के कारण

आया हुआ स्वर परिवर्तित हो जाय—ऐसे परिवर्तन जर्मन भाषा में पाये जाते हैं।

करिआ = केरिआ

भारोपीय परिवार में ऐसे उदाहरण मिलते हैं और यूराल अल्टाइक में भी मिलते हैं।

अपिश्रुति—व्यञ्जनों के ज्यों के त्यों रहने पर भी स्वरों में अन्तर आता है।

जैसे—हिन्दी में—मेल मिली मिला

संस्कृत में—भूत: भरति

अंग्रेजी में—Sing Sang Sung

इस प्रकार ध्वनिपरिवर्तन की कई दिशाएँ हैं जिनमें ध्वनिपरिवर्तन हो जाते हैं।

प्रश्न २२—ध्वनि-परिवर्तन के कारण स्पष्ट कीजिए।

संसार की अन्य वस्तुओं की भाँति भाषा भी परिवर्तनशील है। वह सदा एकसी नहीं रहती। उसका भी निरन्तर विकास होता रहता है। यह विकास ही सृष्टि के हर एक पदार्थ का नियम है। विकास के बिना जीवन की जड़ता सभी को अखरने लगती है। यह विकास गति और स्थिति के विचित्र सम्मिश्रण के रूप में प्रकट होता है। भाषा वैज्ञानिक ने इस विकास के मूल कारणों को ढूँढ़ने का प्रयास किया है। इस सम्बन्ध में विविध विद्वानों के विभिन्न प्रकार के मत हैं।

ध्वनि में विकार उत्पन्न होने के प्रधान दो ही कारण हैं—मुखसुख और अपूर्ण अनुकरण। यदि इन दोनों पर ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो पता चलेगा कि दोनों का मूल एक ही है। यदि हम मुखसुख पर विचार करें तो प्राय: कई ध्वनियाँ इसके अन्तर्गत आ जायेंगी क्योंकि यदि एक ध्वनि किसी पढ़े लिखे विद्वान् के लिए सरल है तो वह एक बच्चे के लिए कठिन हो जाती है। जिस ध्वनि का उच्चारण एक शिक्षित् व्यक्ति कर सकता है उसका अपढ़ उच्चारण नहीं कर सकता।

जिस ध्वनि का उच्चारण एक देश का वासी बड़ी सुविधा से अनायास ही कर लेता है उसका उच्चारण दूसरे देश के वासी के लिये कठिन हो जाता है। अतः कोई ध्वनि कठिन या सरल नहीं होती। इस कठिनाई या सरलता के कई अन्य भी कारण होते हैं परन्तु हम उन्हें अनुकरण की अपूर्णता कहकर चुप हो जाते हैं।

जब हम यह कहते हैं कि इस ध्वनि का अपूर्ण अनुकरण हुआ है। हम यह क्यों कहते हैं ! कैसे कह देते हैं ! प्रत्येक अपनी सुविधा के अनुसार ठीक उच्चारण करने का प्रयास करता है। हम यह विचार नहीं करते हैं कि किसी भी ध्वनि का अपूर्णतापूर्वक अनुकरण देशकाल की परिस्थितियों, शारीरिक विभिन्नताओं, सामाजिक और राजनीतिक कारणों तथा देश के जलवायु आदि पर निर्भर है। इन्हीं कारणों से जिस शब्द का ठीक उच्चारण एक पंजाबी कर सकता है, उसी लहजे में, उसी ध्वनि में एक बंगाली या गुजराती नहीं कर पायेगा। अतः हम इन कारणों का विस्तारपूर्वक विवेचन करना उचित समझते हैं।

शारीरिक विभिन्नता के कारण ध्वनि परिवर्तन हो जाता है प्रत्येक मनुष्य में यद्यपि शारीरिक अवयवों की समानता है परन्तु एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से शरीर के संस्थान की दृष्टि से भिन्न है। उसके उच्चारण के अवयवों की नाप तथा उसके मस्तिष्क की गुरुता या लघुता दूसरे से भिन्न है। जो मस्तिष्क की गुरुता एक ब्राह्मण विद्वान् पण्डित को प्राप्य है, वह जाति के अछूत को प्राप्य नहीं। इस प्रकार किसी में कम, किसी में अधिक विभिन्नता चाहे है, परन्तु है अवश्य। ईश्वर ने कोई दो व्यक्तियों को समान नहीं बनाया।

शारीरिक विभिन्नता के कारण ही भाषा में भेद पाया जाता है। हम शारीरिक विभिन्नता के कारण भाषा भेद की बात को अपने नैतिक जीवन में प्रतिदिन देखते हैं। हम देखते हैं कि एक ही घर में, एक ही माँ-बाप के बच्चे शरीर में भिन्न हैं। कोई छोटा, कोई बड़ा, कोई मोटा,

कोई दुबला । यद्यपि छोटा होना या बड़ा होना भाषा में इतनी विभिन्नता नहीं डालता, परन्तु इसी बात की जब हम बारीकी से जाँच करते हैं तब पता चलता है कि पर्याप्त सीमा तक भाषा-भेद या ध्वनिविकार का कारण यह भी है। यदि एक अंग्रेजी बच्चे को किसी भारतीय महिला के संसर्ग में रहने दिया जाये तो वह जितनी सुन्दर भारतीय भाषा बोल लेगा उतनी सुन्दर अंग्रेजी नहीं बोलेगा। कोई महाराष्ट्र का ब्राह्मण यदि कुमाऊँ में जाकर बस जाता है तो उसके वंशज उतनी ही सुन्दर कुमाऊँ भाषा बोलेंगे जितनी सुन्दर वहाँ के निवासी बोलते हैं। कई भारतीय परिवार जाकर विलायत में कई वर्ष पहले से बस चुके हैं अतः उनके बच्चे अंग्रेजी अधिक अच्छी बोलते हैं न कि भारतीय कोई भाषा।

इससे प्रकट हो चुका है कि व्यक्ति का ही सम्बन्ध भाषा से है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की देखा-देखी ध्वनि सीखता है। परन्तु शारीरिक विभिन्नता के कारण ही हरएक व्यक्ति में व्यक्ति-वैचित्र्य होता है। यही कारण है कि कोई दो मनुष्य एक ध्वनि का उच्चारण समान रूप से नहीं कर सकते, ध्यान देने पर ध्वनि का विकार सहज में ही लक्षित हो जाता है। समाज में भाषा परस्पर व्यवहार का साधन बनी रहे, इस कारण से व्यक्ति-वैचित्र्य का ध्वनि पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस परिवर्तन का उदाहरण हमें अरबी और लिथुआनियन भाषा में मिलता है। वैसे तो ध्वनि की उत्पत्ति और अनुकरणशीलता का धारण कर्त्ता व्यक्ति ही है तथापि व्यक्ति का आलस्य प्रमाद तथा अन्य चेष्टाएँ भी समाज द्वारा गृहीत होकर सामूहिक रूप से भाषा पर प्रभाव डालती हैं।

ध्वनि विकार का कारण वाक्यन्त्र की विभिन्नता भी है। वाक्-यन्त्र का निर्माण देश और काल से प्रभावित अवश्य रहता है। यही कारण है कि एक देश का मनुष्य ध्वनि के उच्चारण में दूसरे देश से भिन्न प्रतीत होता है। जैसे संस्कृत का 'स' ईरानी में 'ह' बन जाता है। बंगाली में 'स' का उच्चारण सदैव 'श' के रूप में होता है'।

कोई भी भाषा सीखकर नहीं आता। उसे वह सुनकर पारस्परिक सम्पर्क से सीखता है। वाक्-यन्त्र में भिन्नता होने से धीमे-धीमे श्रवणेन्द्रिय की विभिन्नता के कारण शब्द का रूप परिवर्तित हो जाता है। जिससे ध्वनि में हल्का-हल्का रूप बदल जाता है। कभी कभी वही परिवर्तन भयंकर रूप धारण कर लेता है।

ध्वनि के उच्चारण पर काल के परिवर्तन का भी प्रभाव पड़ता है। काल से तात्पर्य उस ऐतिहासिक परिस्थिति से है जो किसी भाषा-विशेष के वक्ताओं की किसी परिस्थिति से, चाहे वह सामाजिक, सांस्कृतिक अथवा राजनीतिक अवस्था से उत्पन्न होती हो, जैसे भारोपीय परिवार में मूर्धन्य ध्वनियाँ नहीं हैं। वे ध्वनियाँ भारतीय भाषाओं में द्राविड़ों के संसर्ग से आई हैं। अब ये ध्वनियाँ भारतीय भाषाओं में बहुत घुलमिल गई हैं। इसके अतिरिक्त आज जितने भारतीय भाषाओं में अपभ्रंश देखने को मिलते हैं वे सभी द्राविड़ भाषाओं के अतिरिक्त आभीर, गुर्जर आदि लोगों के आक्रमण के कारण माने गये हैं।

यह बात तो सर्वमान्य है कि जिस भाषा ने अधिक भाषाओं से अपना सम्पर्क बनाये रखा, जिस देश ने दूसरे देशों से मिलना-जुलना अच्छा समझा उस भाषा में गतिशीलता बनी रही और ध्वनि सम्बन्धी विकार भी उत्पन्न होते रहे। मानव में प्रयत्नलाघव की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। प्रत्येक वक्ता कम से कम प्रयत्न करने में सहज से सहज माध्यम द्वारा अपने विचारों को अभिव्यक्त करना चाहता है। इसी कारण ध्वनि में आगम लोप आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं। मुख-सुख भी व्यक्ति की सहज प्रवृत्ति है। उपाध्याय को ओझा कहना, वारानसी को बनारस, सपत्नी को सौत आदि उदाहरण मुखसुख के ही हैं। ऐसे उदाहरण भाषा में अनेकों मिलेंगे। जब कहने वाला मुखसुख के कारण शब्द की बनावट बदल देता है तो कई बार श्रोता भी समझने में असावधानी कर देता है, जिससे ध्वनि-परिवर्तन स्वयमेव ही हो जाता है। ऐसी स्थिति में भाषा साध्य न होकर विचारों को व्यक्त करने का

साधन-मात्र रह जाती है। अंग्रेजी में talk, walk, know, night आदि में कुछ ध्वनियाँ ऐसी हैं जिनमें द्राविड़ उच्चारण है। इससे जिह्वा अधिक कठिनाई का अनुभव करती है।

कई बार भावुकता के आवेश में आकर भी ध्वनि-विकार उत्पन्न हो जाया करते हैं। जैसे प्यार में कई बार अम्मा को अम्मी, उषा को उषी, बेटी को बिट्टी कह देते हैं। क्रोधाभिभूत होकर हम कई बार बेहूदा, असभ्य बातें कह बैठते हैं। तब भी शब्दों में विकार उत्पन्न हो जाता है—जैसे क्रोध में बच्चे को बच्चू कह देते हैं। क्रोध और प्रेम में नामों की तो खूब गत हो जाती है। आज भी नाम को बिगाड़कर बोलने की प्रवृत्ति अधिक दिखाई पड़ती है। यही कारण है कि ध्वनियों में विकार उत्पन्न हो जाता है। कई बार कुछ लोग बनकर बोलते हैं। अथवा फुर्तीलापन और चतुराई दिखाने का प्रयत्न करते हैं तब भी वे शब्दों को बिगाड़ देते हैं। 'कहना को केना, रहना को रेना, बैठो को बेटो' आदि कह देते हैं। इस प्रकार का प्रभाव अधिकतर लखनऊ की नवाबी भाषा में दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार बोलने में शीघ्रता करके भी ध्वनि में परिवर्तन स्पष्ट रूप से आ जाता है। प्रायः कई लोगों में शीघ्र बोलने की प्रवृत्ति देखी गई है। वे शब्दों का उच्चारण ठीक नहीं करते। जिसका परिणाम यह होता है कि ध्वनि में या तो लोप हो जाता है या परिवर्तन हो जाता है। जैसे मास्टर साहब का मास साहब, माता जी का मातजी, या माजी, पंडित जी का पंडी सुनने में आता है। यहाँ कुछ अक्षरों का लोप होकर अन्य का आगम हो जाता है। कई व्यक्ति अपने शब्द में स्वभाव की कोमलता दिखाने के लिए या अपने ज्ञान का फुर्तीलापन दिखाने के लिए ज़रा अधिक दुरुस्त बोलने का प्रयत्न करते हैं। उर्दू में 'शीन', 'काफ़' और 'ज़े' का उच्चारण बड़े जोर लगाकर करते हैं। जैसे ज़रा, मैंने, शुभेच्छु, आदि शब्द जो बोलने में ही अधिक ठीक प्रतीत होते हैं।

कभी-कभी ध्वनि परिवर्तन विभाषा के प्रभाव के कारण भी होता है। जब एक राष्ट्र, संघ या जाति एक दूसरे के सम्पर्क में आती है तो भाषा में विनिमय होता है। भारोपीय भाषा में ट वर्ग अंग्रेजी के सम्पर्क से आया। भौगोलिक प्रभाव के कारण भी ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है। जिस देश की जलवायु गर्म होगी उस देश में विवृत्त शब्दों का विकास अधिक होगा और जहाँ की जलवायु ठंडी होगी वहाँ संवृत्त ध्वनियों का विकास अधिक होगा। जो ऐसे स्थान हैं जिनकी स्थिति चारों ओर से पर्वतों के कारण घिरी हुई है और विजातीय सम्पर्क से हीन हैं उनकी भाषा स्थिर रहेगी और उनकी ध्वनियों में किसी प्रकार का विकास या ह्रास नहीं होगा। ध्वनि बाहरी व्याघात से बची रहेगी।

इसी प्रकार सामाजिक और सांस्कृतिक स्थिति का प्रभाव भी भाषा के विकास और ह्रास में सहायक होता है। यदि सामाजिक शक्ति होगी, आनन्ददायक वातावरण होगा, विद्या का प्रचार, सांस्कृतिक उन्नति होगी तो ध्वनि शुद्ध विकसित और परिमार्जित होगी। यदि वातावरण में अराजकता, विप्लव और अशान्ति होगी तो लोग धीरे बोलेंगे, संवृत्त ध्वनियों की ओर झुकाव होगा और बोलने में अनेक प्रकार की असावधानी वर्ती जायेगी। जिससे ध्वनि परिवर्तन सहज ही में होगा। शब्दों की साधारण लम्बाई में लाघवता आ जाती है जिससे स्वराघात, सुविधा या शीघ्रता के कारण ध्वनि में परिवर्तन हो जायेगा। उपाध्याय = झा, जयराम जी = जयराम, नमस्कार = नमस्ते इसी के उदाहरण हैं।

कई बार कई ध्वनियाँ स्वतः ही घिसकर परिवर्तित हो जाती हैं। ध्वनियों के ऐसे विकास को स्वयंभू कहते हैं। जैसे—

सर्प = साँप   मया = मैं

कूप = कुआँ   मह्यम् = मुझे आदि।

कवि लोग कविता में तुक का केवल ध्यान रखते हुये ध्वनि में अनेकों मनचाहे परिवर्तन कर डालते हैं। रीतिकाल की कविता में शब्दों की

तोड़-मरोड़ देखने को मिलती है। जैसे विकराल = विकरालु, कमल = कमलु आदि। कई वार सादृश्य के कारण तथा सुगमता के कारण शब्दों की स्वयं ही नई रचना हो जाती है जैसे एकादश = द्वादश, सैंतीस = पैंतीस आदि में केवल सादृश्य है और कुछ नहीं।

संगीतात्मक स्वराघात आरोह और अवरोह के कारण कभी-कभी संवृत्त बन जाता है। और विवृत्त संवृत बन जाता है जैसे कुष्ट = कोढ़, कुक्षि = कोख। बलाघात से आसपास की ध्वनियाँ कमजोर पड़ जाती हैं। धीमे-धीमे उनका लोप हो जाता हैं—जैसे तत्स्थाने = तह्म, आभ्यान्तर = भीतर आदि।

इस प्रकार ध्वनिपरिवर्तन के अनेक रूप हैं। अनेक कारण हैं जो कई दिशाओं में ध्वनियों का परिवर्तन कर देते हैं।

प्रश्न २३— ध्वनि नियम (Phonetic laws) से आपका क्या तात्पर्य है? ग्रिम के ध्वनि नियम को स्पष्ट करके बताइये कि उसमें आगे चलकर क्या दोष पाये गये और उनका किसने किस प्रकार समाधान किया।

ध्वनि का परिवर्तन स्वाभाविक है। इसकी निश्चित गति देखकर जो नियम बना लिए जाते हैं उन्हें ध्वनि नियम कहते हैं। जैसे संस्कृत य् प्राकृतों में ज् हो गया यह एक नियम है। नियम के साथ अपवाद भी होते हैं जैसे मागधी प्राकृत में य है।

ये ध्वनि-नियम शाश्वत नहीं होते। भूतकाल के बारे में ही नियम बनते हैं। भाषा विकसित होकर नया रूप भी धारण कर सकती है इसलिये फिर यह नियम लागू नहीं भी हो सकते। दूसरी बात यह भी है कि ध्वनि-नियम के लिए यह आवश्यक नहीं है कि संसार की सभी भाषाओं पर वे लागू हो सकें। जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान जेकवग्रिम ने ध्वनि नियम बनाये थे जो उसके नाम पर 'ग्रिम-नियम' के नाम से प्रसिद्ध हैं। उसने प्राचीन भारोपीय भाषा संस्कृत, ग्रीक और लैटिन तथा गाथिक, जर्मन और अंग्रेजी का अध्ययन किया था और नियम बनाये

थे । इस नियम से पता चलता है कि किस प्रकार जर्मन वर्ग की भाषाओं में मूल भारोपीय स्पर्शों का विकास ग्रीक, लैटिन, संस्कृत आदि अन्य वर्गीय भाषाओं की अपेक्षा भिन्न प्रकार से हुआ है। आरम्भ में ग्रिम नियम इस प्रकार से था कि—

(१) जहाँ संस्कृत, ग्रीक, लैटिन में अघोष अल्पप्राण स्पर्श रहता है वहाँ गाथिक, अंग्रेजी, डच आदि निम्न जर्मन में महाप्राण ध्वनि और उच्च जर्मन में सघोष वर्ण होता है। इसी प्रकार (२) संस्कृत आदि का महाप्राण-गाथिक में सघोष और उच्च जर्मन में अघोष वर्ण और (३) संस्कृत का सघोष, गाथिक में अघोष और उच्च जर्मन में महाप्राण एक साइकिल के चक्र के समान रहता है जैसे—

	संस्कृत ग्रीक लैटिन	गाथिक (निम्न जर्मन)	उच्च जर्मन
(१)	प	फ	ब
(२)	फ	ब	प
(३)	ब	प	फ

पर इस नियम को सदोष समझकर ग्रिम ने १८२२ में उसमें सुधार किया और उसका निर्दोष नियम इस प्रकार बनाया—

भारोपीय अघोष स्पर्श क, त, प, जर्मन वर्ग में अघोष स्पर्श ह, थ फ हो जाते हैं, भारोपीय घोष स्पर्श ग, द, ब जर्मन में क, त, प, अघोष हो जाते हैं और भारोपीय महाप्राण स्पर्श घ, ध, भ, जर्मन में अल्पप्राण ग, द, ब हो जाते हैं।

सिद्धान्ततया ध्वनि नियम का अपवाद नहीं होना चाहिए पर जब ग्रिम नियम के अपवाद पाये जाने लगे तो उसके समाधान के लिए वैज्ञानिक प्रयास करने लगे, जिसके फलस्वरूप तीन उपनियम स्थिर किये गये—१–ग्रासमान का उपनियम २–व्हर्नर का उपनियम और (३) ग्रिम नियम के अपवादों का नियम।

१–ग्रासमान का उपनियम—ग्रीक और संस्कृत में एक अक्षर के आदि और अंत दोनों स्थानों में एक ही साथ प्राण-ध्वनि अथवा महाप्राण

स्पर्श नहीं रह सकते—तात्पर्य यह कि एक अक्षर में एक ही प्राण ध्वनि रह सकती है। इस प्रकार जहाँ ग्रीक के क, त, प के स्थान में जर्मन ग, द, ब होते हैं वहाँ समझना चाहिए कि क, त, प, प्राचीनतम् महाप्राण स्पर्शों के स्थानापन्न हैं। पर इस नियम के भी अपवाद भाषा में मिलने लगे।

२—**व्हर्नर का उपनियम**—शब्द के मध्य में आने वाले क, त, प और स के अव्यवहित पूर्व में यदि भारोपीय काल में कोई उदात्त स्वर रहता है तब उसके स्थान में ह, प, फ और स आते हैं अन्यथा ग, द, ब और र आते हैं। भारोपीय स्वरों का निश्चय अधिकतर संस्कृत से और कभी-कभी ग्रीक से होता है।

इस नियम के भी अपवाद मिलते रहे तो तीसरा अपवाद का नियम बना।

३. **अपवाद का नियम**—भारोपीय स्क, स्ट, स्प (SK, ST, SP) में कोई विकार नहीं होता। अंग्रेजी में कुछ विकार हो जाते हैं ? SK का SH हो जाता है।

इस प्रकार ग्रिम नियम और उसके अपवादों से ज्ञात होता है कि ध्वनि-नियम के अपवाद होते हैं। पर ये अपवाद सकारण होते हैं। ग्रिम नियम हिन्दी में किसी प्रकार लागू नहीं होता। अंग्रेजी तक में यह पूरी तरह लागू नहीं होता। यह तो जर्मन वर्ग को छोड़कर और किसी वर्ग में लागू नहीं होता।

प्रश्न २४—लिपि की विकास—परम्परा को स्पष्ट कीजिए।

भाषा की उत्पत्ति की भांति लिपि का इतिहास भी संदिग्ध है। संसार में लिपि का विकास कैसे हुआ, इसे ठीक-ठीक बताना कठिन है। इस विषय के लिए भाषा वैज्ञानिकों की जिज्ञासा पर्याप्त सीमा तक बढ़ चुकी है।

सुदूर ऐतिहासिक युग में जब मनुष्यत्व लाभ किया ही था, तब उसे भावप्रकाशन के हेतु प्रयास करना पड़ा होगा। इस प्रयत्न के परिणाम-

स्वरूप उसके वाग्यंत्र का विकास हुआ होगा। परन्तु भाषा श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है। ऐसी परिस्थिति में अपनी बात अथवा भावना को भिन्न देशस्थ मनुष्यों तक पहुँचाना हो तो किस उपाय का अवलम्बन ले, यह समस्या मानव के लिए बनी रही। मानव की यह स्वाभाविक प्रवृति रही है कि वह अपने कुछ एक स्मृति-चिह्न छोड़ जाना चाहता है। यह भी सदा सम्भव नहीं, कि उसके सभी सम्बन्धी सदैव उसके निकट रहें। ऐसी परिस्थिति में वह अपने सन्देश-प्रेषण के लिए किस उपाय का अवलम्बन ले। आज तो तार, टेलीफून, डाक आदि अनेकों साधन हैं इसलिए इस समस्या पर विचार करना हास्यास्पद प्रतीत होता है। परन्तु यहाँ पर तो सुदूर एतिहासिक युग के विषय का प्रश्न है।

वैसे पहले लिपि आदि के रहते हुए भी स्मृति के लिए उपहार भेज कर भाव-प्रदर्शन किया जाता था। जैसे रामचन्द्र जी ने हनुमान के हाथ मुद्रिका भेजी थी। दुष्यन्त ने शकुन्तला को स्मृति के लिए अंगूठी दी थी। आज भी किसी की मृत्यु का समाचार भेजना हो तो कोने से पत्र को फाड़ दिया जाता है। किसी बात को भूल न जायें—इसकी स्मृति स्वरूप दुपट्टे के कोने पर गाँठ बांध ली जाती है। वर्ष-गाँठ को मनाना भी एक प्रकार का स्मृति-चिन्ह है।

ये सब स्मृति-चिन्ह तो श्रोत्र-ग्राह्य हैं। उनको नेत्र-ग्राह्य बनाने के लिए भी कुछ जातियों के प्रयत्न उल्लेखनीय हैं। पेरू में कुइपु नाम की डोरियाँ होती हैं। इन रंगों अथवा धागों से विविध प्रकार की स्मृतियों और अर्थों का संकेत मिल जाता है। जैसे सफेद डोरी शान्ति का प्रतीक है और लाल रंग खतरे का प्रतीक समझा जाता है। ये संकेत उत्तरी अमेरिका की जातियों में प्रचलित हैं। ये उपाय एक प्रकार से संकेत स्वरूप हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार विशेष आकृति के अक्षरों से एक विशेष शब्द द्वारा किसी विशेष भाव का उद्बोधन हो जाता है।

इन स्मृति-चिन्हों के अतिरिक्त मिश्र देश में चित्र लिपि से भाव व्यक्तिकरण की परिपाटी प्रचलित है जैसे दौड़ते हुए बछड़े के पास पानी

का चित्र होने से प्यास के भाव को प्रकट किया जाता है। अस्थि-पंजर से कंकाल वाले मनुष्य का चित्र दिखाकर दुर्भिक्ष के भाव को प्रकट किया जाता है। चीन में दो हाथ मिले हुए व्यक्तियों को चित्र में दिखाकर मित्रता के भाव को प्रकट किया जाता है। भौगोलिक मानचित्रों में आज भी मंदिर पहाड़ मस्जिद आदि के चित्र होते हैं। चित्र लिपि के अवशेष अभी तक स्काटलैंड केलिफोर्निया की घाटियों, मिश्र, मैक्सिको, चीन, फ्रांस आदि में मिलते हैं। इस लिपि के लिए पत्थर, चर्म, सींघ, पेड़ की छाल आदि कागज का काम देते हैं। चित्र-लिपि बहुत व्यापक है। सम्भवतः इसका प्रचलन भी अधिक रहा है। परन्तु इस लिपि की कुछ कठिनाइयाँ स्पष्ट हैं।

१. व्यक्तिवाचक संज्ञाओं को व्यक्त करने का कोई साधन नहीं था। एक जाति का चित्र तो बन सकता है परन्तु यह मोहन है, या यह राम है, इसे कैसे व्यक्त किया जा सकता है।

२. स्थूल वस्तुओं का चित्र बनाना तो सम्भव है परन्तु भावों या विचारों को अभिव्यक्त करना अपेक्षाकृत कठिन है।

३. उस समय चित्र बनाने में क्षिप्रकारिता और नैपुण्य का अभाव था।

४. काल आदि को व्यक्त करने में इस लिपि में पूर्ण अभाव था।

रेखा लिपि विश्व की आरम्भिक लिपियों में से एक है। सूत्र लिपि के साथ इस लिपि का भी विकास होता गया। सूत्र या रंग के मिलने में कदाचित् कठिनाई रही होगी, अतः इस लिपि का आविष्कार कुछ अफ्रीकी जातियों में हुआ, जो आज भी है। आज के हमारे लिपि-चिह्नों का इस लिपि से घनिष्ठ सम्बन्ध है। विशेषतः अंकों की उत्पति तो इसी लिपि से हुई।

उदारणार्थ—

—से १

=से २

☰से ३

+से ४

इसी प्रकार अंग्रेजी में ,1 2, 3, तथा रोमन के I, II, III, में तो स्पष्टत: इसी प्राचीन रेखालिपि के चिह्न निहित हैं। रेखाएँ प्राचीन काल में खाल, पत्थर तथा लकड़ी और मिट्टी के टुकड़ों पर बनाई जाती थीं।

उत्तर अमेरिका के आदिम निवासियों एवं प्राचीन मिश्र निवासियों में चित्र लिखित प्रणाली प्रचलित थी। मैसोपेटोमिया तथा सुमेरु जाति में नरम ईंटों पर कीलों द्वारा चित्र बनते थे। तल की नरमी के कारण ये चित्र आरम्भ में ही संकेत रूप हो गये। सामी परिवार के लोगों ने इन्हें अक्षरात्मक बना लिया। फिर ईरानी लोगों ने इनका प्रयोग किया। इन्हीं के एक रूप में हमें दारा (३२० ई० पूर्व ईरान का बादशाह) के पुराने कीलाक्षर लेख प्राप्त होते हैं। चित्र-लिपि की विभिन्न अवस्थाएँ हैं।

विचार-चित्रण या भाव लिपि—यह चित्र-लिपि की अवस्था का ही एक विकसित रूप है। इसके अवशेष चीन और मिश्र में मिलते हैं। वस्तुओं के लिये स्थूल चित्र का निर्माण होता था परन्तु भावना और सूक्ष्म विचारों को व्यक्त करने के लिये चित्र कुछ असाधारण होते थे। पर्वत का भाव प्रकट करने के लिये पहले ऊँची-नीची चोटियों को दिखाया जाता था। धीमे-धीमे ये चित्र क्षुद्रायतन होते गये। शीघ्रता के लिए पंख फलाये हुए पक्षी का चित्र दिया जाता है।

खण्डित विचार लिपि—यह लिपि भी चित्र-लिपि की एक अवस्था है। इस विचार चित्रण की अवस्था में पूरे वाक्य का बोध एक चित्र द्वारा किया जाता है। परन्तु कुछ विकास होने पर एक शब्द के लिए अलग-अलग चित्र बनने लगे। अत: एक वाक्य को प्रकट करने के लिए कई चित्र बनाने पड़े। शीघ्रता के कारण चित्र पूरे न बन पाते थे। जिसका परिणाम यह निकला कि पूरे शब्द चित्र धीमे-धीमे इतने घिस गये, कि वे स्वाभाविक न रह कर प्रतीक मात्र ही रह गये।

ध्वनि-लिपि—उपर्युक्त रूपों का ध्वनि से कोई सम्बन्ध नहीं था इसलिये व्यक्तिवाचक नामों को लिपि बद्ध करने की समस्या पैदा हुई। उदाहरणार्थ एक तरीका निकला। इत्जकोत्ल मैक्सिको के राजा का नाम था। इसका चिन्ह बनाने के लिए सांप और चाकू का चित्र बनाया गया क्योंकि इत्ज का अर्थ चाकू और कोत्ल का अर्थ सांप होता है। इस प्रकार सांकेतिक चित्र भाव चित्र के स्थान पर ध्वनि-चित्र समझे जाने लगे।

आदि ध्वनिलिपि—अक्षर ज्ञान होने से एक भाषा-भाषियों को यह भी ज्ञान हो गया कि उनकी भाषा को कितनी ध्वनियां और अक्षरों की आवश्यकता है, अतः उन्होंने निश्चित अक्षरों के लिये निश्चित ध्वनियों का प्रयोग किया। आरम्भ में वीणा के लिए 'ठ' चिह्न प्रयुक्त करते थे। जब लोगों को अक्षर ज्ञान हो गया तो वीणा के आरम्भ में गाने के कारण 'ठ' चिह्न बनाया गया। 'ठ' से 'व' का विकास स्वाभाविक ही था।

विश्व की कुछ प्रधान लिपियाँ

चीन की सबसे प्राचीन लिपि ग्रंथि-लिपि है। उसे आवश्यकतानुसार न पाकर लोगों ने चित्र-लिपि को अपनाया। चित्र-लिपि से पूर्ण सहायता न मिलने पर भाव-लिपि विकसित हुई और उससे ध्वनिलिपि निकली। यह ध्वनिलिपि चीन की अपेक्षा जापान में विकास को प्राप्त हुई।

चीन की भांति मिश्र में भी चित्र लिपि का विकास हुआ। फिनीशियन लोगों ने मिश्र की लिपि को अपने अनुकूल बना लिया। इसी लिपि के विकृत चिह्नों को लेकर यूनानियों ने अपनी लिपि को बनाया। इसी मिश्र की लिपि को आर्मेनियन लोगों ने अपना लिया और फिर अरब तथा ईरान की लिपियों का विकास हुआ। कुछ लोग इस शाखा से भारत की ब्राह्मी लिपि का विकास मानते हैं।

सुमेरी लिपि मैसोपिटोमिया में प्रचलित हुई। बाद में ईरान के पुराने लोगों ने इसको अपना लिया। भारत में प्राचीन काल के अशोक-

कालीन लेख प्राप्त हैं। इस समय दो प्रधान लिपियां थीं—ब्राह्मी और खरोष्ठी। यूरोपीय विद्वान् दोनों लिपियों को ही विदेशी मानते हैं।

ब्राह्मी लिपि

यह लिपि भारतवर्ष की राष्ट्रीय लिपि थी। पश्चिमोत्तर देश का छोड़कर इसका प्रचार भारत में था। ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति के विषय में मतभेद है। विल्सन, प्रिसेप, मूलर आदि ने ब्राह्मी की उत्पत्ति ग्रीक या फानीशी से मानी है। डीके के विचारानुसार इस लिपि की उत्पत्ति असीरी कीलाक्षरों से किसी दक्खिनी सामी लिपि द्वारा हुई है। विल्यम जोंस वेवर तथा वूलर के अनुसार ब्राह्मी की उत्पत्ति सामी के किसी न किसी रूप से हुई है। परन्तु यह मतभेद व्यर्थ का है। असल बात यह है कि ब्राह्मी लिपि भारतवर्ष का मौलिक आविष्कार है। इसकी प्राचीन और सर्वांग सुन्दरता से चाहे इसका कर्त्ता ब्रह्म माना गया हो या साक्षर समाज ब्राह्मणों की लिपि होने से ब्राह्मी कहलाई हो। इसकी विदेशी उत्पत्ति का सूचक कोई प्रमाण नहीं मिलता इस बात का समर्थन भारतवर्ष के महत्त्वपूर्ण विद्वानों ने किया है।

ई० पू० ५०० के निकट से ३५० तक ब्राह्मी का प्रचार रहा इसके पश्चात् ब्राह्मी के दो प्रवाह हो गये—उत्तरी और दक्षिणी।

उत्तरी ब्राह्मी की लिपियाँ—गुप्त लिपि, कुटिल लिपि, नागरी और शारदा लिपि।

दक्षिणी लिपि के रूप-पश्चिमी, मध्यप्रदेशी, तेलगू-कन्नड़, ग्रन्थलिपि, कलिंगलिपि और तामिललिपि। भारतवर्ष में लिपि ज्ञान की प्राचीनता में सन्देह नहीं किया जा सकता। यों तो हड़प्पा और मोहन जोदड़ो में मिली लिपियाँ ५००० वर्ष पूर्व की हैं। हैदरावाद में कुछ वर्तनों पर २००० ई० पू० की लिपि मिलती है।

खरोष्टी लिपि—यह लिपि भारतवर्ष की अपनी लिपि नहीं। वादशाह डैरियस के राज्यकाल में और भारत के उत्तरी पश्चिमी भाग में

रही। यह उर्दू की भाँति दाएँ से बाएँ की ओर लिखी जाती है। आज भी इसके शिलालेख मिलते हैं। इस शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में भी भिन्न-भिन्न मत हैं।

देवनागरी लिपि—नागरी लिपि की प्रभुता दक्षिणी भारत में ८ वीं सदी से बराबर रही है। आज संस्कृत के ग्रन्थों को लिखने और छपाने के लिये सर्वत्र और मराठी तथा हिन्दी भाषाओं के लिये सर्वत्र इसी का व्यवहार रहा। नैपाल में यही लिपि है। मिथिला और बंगाल में इसी का आदर है। भारत की राष्ट्र लिपि यही है।

११वीं शताब्दी में जो लिपि थी, उसका सम्बन्ध भी आज की देवनागरी से है।

देवनागरी के सम्बन्ध में विभिन्न मतभेद हैं। इसका सम्बन्ध कई विद्वान् नागर ब्राह्मण से मानते हैं। तान्त्रिक यन्त्र में चिह्नों का नाम देवनागर है। देवनागरी के चिह्न भी उससे समानता रखते हैं अतः देवनागरी की उत्पत्ति उससे मानी गई। दक्षिण में इसी को नन्दिनागरी कहते हैं जिससे इसका सम्बन्ध नन्दिनगर नाम की राजधानी से माना जाता है।

राजस्थान, संयुक्त प्रान्त, बिहार, मध्यभारत में इस काल के लिखे प्रायः समस्त शिलालेख ताम्रपत्र आदि में नागरी लिपि ही पाई जाती है।

इस प्रकार आधुनिक देवनागरी लिपि दसवीं शताब्दी ईसवी की प्राचीन नागरी लिपि का ही विकसित रूप है।

प्रश्न २५—कुछ प्रमुख शब्दों की व्युत्पत्ति कीजिए।

कारक चिन्हों की व्युत्पत्ति

ने—ने की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में अभी तक निश्चय नहीं हुआ। ब्लाक और ग्रियर्सन इसका सम्बन्ध तन से मानते हैं। ट्रम्प इसकी व्युत्पत्ति तृतीया के 'एन' से मानते हैं। "रामेण पुस्तकं पठितं" से "राम

ने पुस्तक पढ़ी" बना है। इसी मत की ओर लोगों का अधिक झुकाव है। पर अभी तक इसकी व्युत्पत्ति संदिग्ध है।

को—ट्रम्प के मतानुसार इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत से है। इसका विकास क्रमशः इस प्रकार हुआ है—कृत = कितो = किओ = को। हार्नले वीम्स और चेटर्जी "को" की व्युत्पत्ति "कक्षं" से मानते हैं। कक्षं = कक्खं = काखं = काहं = कहं = कौ = को।

से—'से' की व्युत्पत्ति निश्चित् है इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत "समं" से है। इसका विकास इस प्रकार हुआ है—समं = सअं = से। यह मत वीम्स का है।

के लिए—"के" की व्युत्पत्ति 'कृते' और 'लिए' की 'लग्ने' से लगो = लग्गि = लागि = लगे बना है। हिन्दी बोलियों में 'लागि' और 'लगे' के प्रयोग होते हैं। हार्नले 'लिए' की व्युत्पत्ति 'लब्धे' से मानते हैं पर वह मत सर्वमान्य नहीं है।

की—इसकी व्युत्पत्ति 'कृत' से है। विकास इस प्रकार है—कृतः = करितो = करिओं = केरवा = केरओ = केरों = केर = का। 'के' और 'की' 'का' के रूपान्तर मात्र हैं।

में—में की व्युत्पत्ति संस्कृत 'मध्ये' से है। इसका विकास इस प्रकार है—मध्ये = मज्झे = मज्झि = मज्झहि = माँहि = महि = में।

पर—पर की व्युत्पत्ति संस्कृत 'उपरि' से है। आदि स्वर 'उ' और 'इ' का लोप होकर "पर" बना है।

उत्तम पुरुष सर्वनाम

मैं—इसकी व्युत्पत्ति अहम् के तृतीया 'मया' से मानी जाती है। मया = मइ = मई = मैं। मैं की अनुस्वार ध्वनि तृतीया के "एन" के प्रभाव से है।

मुझ—इसका उद्गम संस्कृत 'मह्य' से है। मह्यं = मज्झा = मझ = मुझ = मुझ का 'उकार' तुझ के सादृश्य से बना है।

हम—'हम' का सम्बन्ध प्राकृत 'अम्हे' से जोड़ा जाता है। अम्हे से म्हे और म्हे से हम। अम्हे और म्हे प्राकृत रूपों का सम्बन्ध वैदिक अस्मे से बताते हैं।

मध्यमपुरुष सर्वनाम

तू—संस्कृत त्वया से प्राकृत में तुअं अपभ्रंश में तुहं और हिन्दी में तू हुआ।

तुम—तुम का सम्बन्ध संस्कृत के तुष्मे से माना जाता है। प्राकृत में तुम्हें रूप था, अपभ्रंश में तुम्हइ और हिन्दी में तुम बना।

तुझ—संस्कृत का तुभ्यं प्राकृत में तुज्झ और हिन्दी में तुझ बना।

मेरा हमारा तुम्हारा, क्रमशः प्राकृत के महं केरो, अम्हकेरो, तुम्हकरो और तुम्ह केरो से बने हैं।

अन्य पुरुष

वह—इसकी व्युत्पत्ति संदिग्ध है। चैटर्जी महोदय के अनुसार संस्कृत के कल्पित रूप अव = प्राकृत 'ओ' से वह की उत्पत्ति है। 'उस' शब्द भी इसी प्रकार संस्कृत अवस्थ = प्राकृत 'अउस्स' से बना है।

यह—यह शब्द संस्कृत एषः से बना है। ये की व्युत्पत्ति संस्कृत एते से है।

अनिश्चय वाचक

कोई—कोई की व्युत्पत्ति संस्कृत कोऽपि से है। प्राकृत में 'कोवि' हो गया। हिन्दी में कोई हो गया। 'व' से 'व' 'ई' हो जाना ध्वनि-सम्बन्धी परिवर्तन से सिद्ध है।

किसी—संस्कृत 'कस्यप्प' से किसी बना है।

कुछ—इसका सम्बन्ध संस्कृत कश्चित् से माना जाता है। प्राकृत में कुच्छ मिलता है।

सम्बन्ध वाचक सर्वनाम

जो—यह संस्कृत 'यः' का रूपान्तर है। यः = यो = जो।

जिस—संस्कृत यस्य = प्राकृत जिस्स = जिस ।

जिन—संस्कृत यानाम् से जिन बना है ।

प्रश्नवाचक सर्वनाम

कौन—इसका सम्बन्ध संस्कृत के 'कः पुनः' से है। पकार व में बदल जाता है, उससे कवन बना और 'व' 'ओ' में बदल कर कौन बन गया ।

किस—संस्कृत कस्य = प्राकृत कस्य = किस

किन—संस्कृत कानाम् = प्राकृत केणां = केनां = किन ।

निजवाचक सर्वनाम

आप—संस्कृत आत्मन् से प्राकृत में अप्प या आपा बना था। इसी आपा से आप बना है ।

अपना—प्राकृत अप्पाणों = अपभ्रंश अप्पाणु = अपना ।

आपस—संस्कृत आत्मस्य = प्राकृत आपस्य = आपस ।

संख्या वाचक शब्दों की व्युत्पत्ति

ग्यारह—इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत एकादश से है। एकादश का अघोष वर्ण 'क' अपने घोष रूप 'ग' में परिवर्तित हुआ ऊष्म व्यञ्जन 'श' का 'ह' हो गया कौर आदि स्वर 'ए' का लोप हो गया। इतने परिवर्तन तो सनियम हैं पर 'द' का 'र' अनियम हुआ है। प्रतीत होता है त्रयोदश और षोडश के परिवर्तित रूप तेरह और सोलह के सादृश्य पर ग्यारह, बारह, पन्द्रह, सत्रह आदि में 'द' के स्थान पर 'र' आता गया है ।

उन्नीस—संस्कृत का एकोनविंशति = उनविंशति बना अन्तिम वर्ग 'ति' का लोप हुआ और 'व' का ई हुआ। 'श' 'स' हो गया इस प्रकार ध्वनि परिवर्तन सम्बन्धी नियमानुसार ही उन्नीस बना ।

बाईस—इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत द्वाविंशति से है। आदि व्यञ्जन 'द' का लोप हुआ। ऊपर वाले उन्नीस की भाँति विंशति का ईस बना और इस प्रकार बा + ईस मिलकर बाईस बन गया ।

पचपन—इसका संस्कृत रूप पंचाशत है पर पंचाशत से पंचपन नहीं बन सकता। प्रतीत होता है कि 'पन' की व्युत्पत्ति प्राकृत रूप पण्णासा से है। पंच पण्णासा से पंच का मध्य व्यञ्जन न् का लोप होकर पच और अन्य वर्ण 'स' का लोप हुआ। पण्णा से 'पन' बन गया। इस प्रकार पचपन बना।

पचहत्तर—इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत शब्द पंच सप्तति से है। संस्कृत का 'स' तो उष्म है। इसका 'ह' होना सनियम है। पर 'ति' का 'र' होना संदिग्ध है प्राकृत में इसका रूप सत्तीर मिलता है। चैटर्जी साहब ति=हि=डि=रि मानते हैं पर यह व्युत्पत्ति संदिग्ध है।

निन्यानेव—इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत नवनवति से है। अन्तिम वर्ण 'ति' परिवर्तित हुआ। नवनवे बना और नवनवें से निन्यानवे बना।

पहला—इसकी व्युत्पत्ति प्राकृत पढ़िल्ल या पथिल्ल से है। पथिल्ल का सम्बन्ध संस्कृत के प्र-थ-इल्स से बताते हैं। पथिल्ल में मध्य स्वर 'इ' का लोप हुआ। महाप्राण 'थ' 'ट' में परिवर्तित हुआ। संयुक्त ल दीर्घ ला हो गया। बीम्स इसकी व्युत्पत्ति प्रथम से बताते हैं पर यह सन्तोष-जनक नहीं है।

दूसरा—बीम्स के मतानुसार इसका सम्बन्ध संस्कृत द्वि-सृत से है। द्वि का तो व के कारण दू बन जाना सरल है। सृतः में ऋ के संसर्ग से अन्त्य शब्द 'तः' के लोप होने पर 'र' का आविर्भाव हुआ है।

डेढ़—द्वयर्द्ध से प्राकृत दिअडढ़ और फिर हिन्दी में डेढ़ बना है।

करोड़—इसकी व्युत्पत्ति संदिग्ध है। कोटि से ही यह शब्द बनाया गया है। यद्यपि ध्वनि नियम लागू नहीं होता।

सांझ—इस शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत शब्द संध्या से है। संध्या में स्पर्श और अन्तस्थ का संयोग है। अन्तस्थ और स्पर्श दोनों का लोप है। पर अन्तस्थ 'य' के विगत तालव्य 'च' का चतुर्थ वर्ण हो गया था, इस प्रकार 'ध्या' का झ बना। 'न' 'स' पर अनुस्वर बना और 'अ' दीर्घ हो गया।

काज—इस शब्द की व्युत्पत्ति कार्य से है। मध्य व्यञ्जन 'र' का लोप हो गया और 'य' अपने विगत रूप 'ज' में परिवर्तित हो गया और 'काज' बन गया।

साँप—की व्युत्पत्ति सर्प शब्द से है। मध्य व्यञ्जन 'र' का लोप हो गया। ह्रस्व 'अ' दीर्घ हो गया। पर इसका अनुनासिक अनियमित है। कभी-कभी अकारण ही अनेक शब्दों पर अनुस्वार पाया जाता है। जैसे श्वास से साँस।

सोहाग—इसकी की व्युत्पत्ति 'सौभाग्य' से है। महाप्राण ध्वनि 'भा' परिवर्तित होकर केवल 'ह' बची है। 'ग्य' में मध्य व्यञ्जन 'य' का लोप होकर 'ग' बचा है।

सवा—इस शब्द की व्युत्पत्ति 'सपादिक' से है। लोप के नियम से केवल 'सपा' बच गया। अघोष 'प' घोष वर्ण 'व' से 'व' बनकर सवा बना है।

ढ़ाई—ढ़ाई शब्द की व्युत्पत्ति अर्ध-तृतीय से है अर्धतृतीय प्राकृत में अड़तीय हो गया था। इस परिवर्तन में व्यञ्जन लोप का नियम है और डकार अपने समीप के उच्चारण स्थान में डकार में बदल गया है। अड़-तीय से अढ़ाई बना। अड़तीय में मध्य व्यञ्जन 'त' का लोप हुआ। 'ड़' अपने महाप्राण स्वरूप 'ढ' में परिवर्तित् होकर दीर्घ हो गया। अढ़ाई का आदि स्वर 'अ' लुप्त होकर ढाई बना।

गोरू—गोरू शब्द की व्युत्पत्ति 'गोरूप' से अन्तिम वर्ण 'प' का लोप हो जाने से गोरू हुई है।

इतवार—आदित्यवार से इतवार शब्द बना है। इसमें भी लोप नियम ही है। आदि के 'आ' तथा मध्य व्यञ्जन का लोप हुआ है। शेष इतवार बचा है।

तेल—इस शब्द की संस्कृति तैल शब्द से हुई है। 'ऐ' का 'ए' हो गया है।

दियासलाई—की व्युत्पत्ति दीपश्लाका से हुई है। 'प' से 'व' और 'व' से 'य' बना है। अन्तिम शब्द के मध्य व्यञ्जन 'क' का लोप हुआ है अन्त्य स्वर 'आ' 'ई' बन गया है।

चीता—चीता शब्द चित्रक का रूपान्तर है। मध्य व्यञ्जन 'र' और 'क' लोप हुए हैं। और ह्रस्व 'इ' और 'अ' दीर्घ होकर चीता बना है।

मोती—मुक्ता से बना है। मध्य व्यञ्जन 'क' का लोप है और मध्य स्वर 'उ' बदल कर 'ओ' और अन्त्य स्वर 'आ' 'ई' होकर मुक्ता से मोती बन गया।

केवट—शब्द कैवर्त से बना है। मध्य व्यञ्जन 'र' का लोप है। दन्त्य व्यञ्जन 'त' अपने समीप की उच्चारण ध्वनि 'ट' में बदल गई है।

मूंछ—शब्द की व्युत्पत्ति श्मश्रु से है। व्यञ्जन 'श्' का लोप हुआ और स्वर विपर्यय के नियम से अन्त्य स्वर 'उ' आदि व्यञ्जन 'म्' बन गया। अन्तस्थ और ऊष्म 'श' के संयोग में 'र' का लोप हो गया, पर 'श्' ने परिवर्तित होकर विगत तालव्य रूप धारण कर लिया 'र' अंतस्थ का द्वितीय वर्ण था अतः तालव्य वर्ग का द्वितीय वर्ण 'छ' बन गया।

जमाई—यह जामातृ शब्द से बना है। अन्त्य वर्ण का व्यञ्जन लोप हो गया और 'ऋ-ई' में परिवर्तित हो गई। मध्य स्वर 'आ' ह्रस्व हो गया। इस प्रकार जामतृ से जमाई बन गया।

भबूत—इस शब्द की व्युत्पत्ति विभूति से है इसमें व्यञ्जन विपर्यय का ही नियम है। मध्य व्यञ्जन 'भ' आदि में आ गया है। मध्य स्वर 'इ' 'अ' हो गया है।

रैन—इस शब्द की व्युत्पत्ति रजनी से है। मध्य व्यञ्जन 'ज' तालव्य है। बदलकर तालव्य अर्द्धस्वर 'य' हो गया। 'अ' और 'य' मिल कर संयुक्त स्वर हो गया। इस प्रकार रजनी = रयनी = रैनी = रैन हो गया।

नेवला—इस शब्द का व्युत्पत्ति 'नकुल' शब्द से है। 'उ' अर्द्ध स्वर 'व' में बदला। 'न' का 'अ' फिर 'ए' तथा 'ल' का 'अ' फिर 'आ' हो गए। इस प्रकार 'नेवला' शब्द बन गया।

कौड़ी—इसकी व्युत्पत्ति 'कपर्द' से है। मध्य व्यंजन 'प' अपने घोष रूप 'व' में परिवर्तित हुआ। 'अ' और 'व' के संयोग से संयुक्त स्वर 'औ' बना। 'ट' और 'द' के संयोग में 'ड़' बना। प्रयत्न के अनुसार 'र' लुँठित और 'ड़' उत्क्षिप्त हैं। दोनों निकट ही हैं। इसी प्रकार उच्चारण स्थान की दृष्टि में 'द' और 'ड' में एक स्थान का भेद है। इस 'ट' का रूप 'ड़' हो गया है। अन्त्य स्वर 'अ' 'ई' में परिवर्तित हो गया है।

प्रश्न २६—निम्नलिखित पर टिप्पणियाँ लिखिए।

१. संध्यक्षर अथवा संयुक्त स्वर—जब एक स्वर एक झटके में बोला जाता है तब वह मेघ—स्वर या समानाक्षर कहलाता है। परन्तु जब दो स्वर अथवा दो से अधिक स्वर एक ही झटके में बोले जाते हैं तब वे मिलकर संध्यक्षर या संयुक्त अक्षर कहलाते हैं। अ, आ, ए, आदि १९ स्वर समानाक्षर हैं और संस्कृत में ए, ओ संध्यक्षर माने गये हैं। पर हिन्दी में यही दीर्घ समानाक्षर ही माने जाते हैं क्योंकि उनके उच्चारण में दो अक्षरों की प्रतीति नहीं होती; ए अथवा ओ का उच्चारण एक अक्षर के समान होता है। हिन्दी में ए और औ संध्यक्षर हैं। जैसे ऐसा, और, सौ आदि।

२. श्रुति—एक ध्वनि के उच्चारण करने में अवयव विशेष एक विशेष प्रकार का प्रयत्न करते हैं अतः जब एक ध्वनि के बाद दूसरी ध्वनि का उच्चारण किया जाता है तब उन्हें शीघ्रतापूर्वक एक स्थान से दूसरे स्थान पर आना पड़ता है। उच्चारण स्थानों की बनावट किसी समतल नली के समान नहीं है। जिससे हवा प्रवाहित होकर ध्वनि उत्पन्न करती रहे। अतः स्थान परिवर्तन अवश्य होता है। उदाहरणार्थ 'एका' शब्द लीजिए। उसमें तीन ध्वनियाँ हैं। उसके उच्चारण में जीभ

को पहले 'ए' स्थान से 'क' स्थान की ओर फिर 'क' स्थान से अ, स्थान को जाना पड़ता है। इन परिवर्तनों के समय भी हवा निरन्तर निकलती रहती है। ये परिवर्तन ध्वनियाँ श्रुति कहलाती हैं। इसके दो भेद हैं पूर्व-श्रुति और परश्रुति।

पूर्वश्रुति—उस परिवर्तन ध्वनि को कहते हैं जो किसी स्वर अथवा व्यंजन के पूर्व में आती है।

परिश्रुति—वे परिवर्तन ध्वनियाँ जो बाद में आती हैं। बोलने में ये हल्के उच्चारण वाली श्रुतियाँ कभी-कभी इतनी प्रधान हो जाती हैं कि वे निश्चित् ध्वनियाँ बन जाती हैं श्रुति जब और भी प्रबल हो जाती है तब वह स्पष्ट वर्ण भी बन जाती है।

उदाहरणार्थ इन्द्र = इन्दर, पर्वत = परवत आदि। अनेक प्रकार के आगमों का कारण श्रुति ही मानी जाती है किन्तु यह भी याद रखना चाहिए कि आगम अन्यान्य से भी हो सकते हैं।

३. अपश्रुति—अपश्रुति एक महत्त्वपूर्ण ध्वनि नियम होता है। अपश्रुति और अक्षरावस्थान एक ही वस्तु के नाम हैं। एक ही धातु से बने हुए दो या तीन शब्दों में अक्षर परिवर्तन होने से अर्थ और रूप में भेद हो जाया करता है। व्यंजन सर्वथा अक्षरों में रहते हैं। केवल स्वर वर्णों में परिवर्तित होता है। इसी सिद्धान्त को अपश्रुति या अक्षराव-स्थान कहते हैं। हिन्दी में भी इसके उदाहरण मिलते हैं। जैसे मिलना और मैला—मेला और मिलाना।

भारोपीय तथा सैमेटिक परिवार की भाषाओं में ऐसे अनेक उदा-हरण मिलते हैं। अपश्रुति के द्वारा शब्दों और रूपों की रचना में बड़ा भेद हो जाता है। अपश्रुति स्वयं स्वर और बल के कार्यों का फल है। भाव यह है कि अपश्रुति का अध्ययन करने के लिए स्वर और बल पर विचार करना पड़ता है।

४. उत्क्षिप्त—जब तालु के किसी भाग को जोर से स्पर्श करते हुए कोई ध्वनि व्यक्त की जाती है तो उसे उत्क्षिप्त ध्वनि कहते हैं—जैसे

ड, ढ। इनके उच्चारण में उल्टी जीभ की नोक से कठोर तालु को झटके से स्पर्श किया जाता है।

५. देशज—जो शब्द आर्यों के आने के पूर्व यहाँ के मूल निवासियों के शब्द थे वे देशज कहलाए। हिन्दी में तत्सम और तद्भव शब्दों के अतिरिक्त देशज शब्द भी हैं।

ये शब्द या तो भारत के आदिम निवासियों की बोली से लिए जाते हैं या कार्य अथवा पदार्थ के रूप से अथवा ध्वनि से बना लिए जाते हैं। उदाहरणार्थ—बड़बड़ाना, खड़खड़ाना चीं-चपर आदि।

६. प्रत्यय—प्रत्यय उस अक्षर या अक्षर समूह को कहते हैं जो शब्द रचना के निमित्त शब्द के आगे लगाया जाता है। यह आकृतिमूलक वर्गीकरण से स्पष्ट हो जाता है। जैसे—बूढ़ा के आगे 'पा' लगाने से बुढ़ापा बन जाता है।

प्रत्यय दो प्रकार के होते हैं—

१. रूपसाधक प्रत्यय, २. शब्द साधक प्रत्यय। रूपसाधक प्रत्यय वाक्यान्वय से और शब्द साधक प्रत्यय शब्द रचना से सम्बन्ध रखते हैं। संस्कृत में धातुओं के आगे जो प्रत्यय लगाये जाते हैं, उन्हें कृत्रिम कहते है। ऐसे प्रत्ययों के लगाने से जो शब्द बनते हैं वे कृदन्त कहलाते हैं। धातुओं को छोड़कर अन्य शब्दों के आगे प्रत्यय लगाकर जो शब्द बनते हैं उन्हें तद्धित प्रत्यय कहते हैं।

शब्द साधक प्रत्ययों का बाहुल्य संस्कृत में होता है। प्रत्यय दो प्रकार से लगते हैं—

प्रधान अथवा धातु प्रत्यय
गौण अथवा अधातु प्रत्यय

उनके नामों से ही प्रकट है कि पहले प्रकार के प्रत्यय धातुओं से और दूसरे प्रकार के प्रत्यय अधातुओं से बनते हैं और नवीन शब्दों की सृष्टि में सहायक होते हैं। संस्कृत के कृति प्रत्यय प्रथम वर्ग में और

तद्धित प्रत्यय द्वितीय वर्ग में आते हैं। मन् से मति बनाने में 'ति' प्राथमिक अथवा धातु प्रत्यय लगता है। इस प्रकार मति एक नवीन प्रत्यय बन जाता है। परन्तु जब मति शब्द में मान प्रत्यय लग जाता है तो मतिमान शब्द बन जाता है। यह तद्धित प्रत्यय के कारण बनता है क्योंकि मति धातु नहीं है।

७. **विभक्ति**—संज्ञा सर्वनाम विशेषण के विभिन्न रूपों को विभक्ति कहते हैं।

परन्तु शब्द साधक प्रत्यय तो अनेक हो सकते हैं। इनके क्रम के विषय में भी निश्चित नियम रहते हैं। विभक्ति सदा अन्त में आती है। प्राय: सभी साधक प्रत्यय धातु तथा विभक्ति के बीच में रहते हैं।

८. **महाप्राण**—प्राचीन भाषा वैज्ञानिकों ने स्पर्श व्यंजनों के दो भेद माने हैं। अल्पप्राण और महाप्राण। अपेक्षित दृष्टि से ही अल्पता और महत्ता का प्रश्न है। जब श्रुति आदि में न होकर किसी स्पर्श व्यंजन और स्वर के बीच में आती है और उस पर जोर दिया जाता है या बल दिया जाता है तब सप्राण अर्थात् महाप्राण स्पर्शों का उच्चारण होता है।

जैसे—क्+ह+अ=ख

ग्+ह्+अ=घ

९. **विवृत्त**—इसका अर्थ है खुला। जिस वर्ण के उच्चारण में जीभ जितना हो सकता है नीचे जाती है, उसे विवृत्त कहते हैं। विवृत्त का उदाहरण 'आम' है। 'अ' विवृत्त पश्च स्वर है इसके उच्चारण में जीभ नीचे रहती है। होठ कुछ खुल जाते हैं। स्वर वर्णों में विशेष गुण जिह्वा और होठों की सहायता से उत्पन्न होते हैं।

१०. **घोष**—घोष वे ध्वनियाँ हैं जिनके उच्चारण में स्वर तन्त्रियों की सहायता ली जाती है। अघोष ध्वनियों के उच्चारण में स्वर तंत्रियों की सहायता नहीं ली जाती। स्पर्श व्यंजनों के पहले दूसरे वर्ण अघोष

संघर्षी ध्वनियां तथा अघोष ऊष्म ध्वनियों को छोड़कर शेष सभी ध्वनियाँ घोष हैं।

११. स्पर्श—स्पर्श उन ध्वनियों को कहते हैं जिनके उच्चारण में मुख से अन्दर और बाहर दो उच्चारण अवयव एक दूसरे को इतनी जोर से स्पर्श करके सहसा खुलते हैं और निश्वास थोड़ी देर के लिए रुककर फिर वेग से बाहर निकलती है। स्पर्श ध्वनियों को स्फोटक ध्वनि भी कहते हैं।

१२. आगम—आगम स्वर और व्यंजन दोनों का होता है। 'य' और 'व' की श्रुति तो संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी आदि सभी में पाई जाती है जैसे गवः, गऊ, गया अनेक प्रकार के आगमों का कारण श्रुति मानी जाती है। स्त्री से इस्त्री आदि अनेक उदाहरण हैं।

कुछ आगम उपमान सादृश्य और मिथ्यानुकृति के कारण होते हैं। कुछ आगम छन्द और मात्रा के कारण भी होते हैं। जैसे प्रकृति में कम्म का काम। बोलते समय आरम्भ में ही कभी-कभी ऐसी ध्वनियाँ आ जाती हैं या संयुक्ताक्षर आ जाता है जिसमें उच्चारण में कठिनता प्रतीत होती है। तब उस शब्द के पूर्व ही स्वर अनजान में ही आकर सहायता करता है; जैसे स्त्री = इस्त्री।

संयुक्त अक्षरों के बोलने में विशेष प्रयत्नशील रहना पड़ता है इस असुविधा को हटाने के लिए मन अपने आप उस संयोग के बीच में कोई और ध्वनि लाकर असुविधा को हटाने का प्रयास करता है यही स्वरागम का नियम है।

१३. घर्षक—घर्षक वर्णों के उच्चारण में वायु मार्ग किसी एक स्थान पर इतना संकीर्ण हो जाता है कि हवा के बाहर निकलने पर सर्प जैसी शीत्कार या ध्वनि होती है। इन ध्वनियों के उच्चारण में मुख-विवर इतना सिकुड़ जाता है कि निश्वास रगड़ खाकर निकलती है। संघर्षी ध्वनियाँ ही पहले उष्म कहलाती थीं। इस प्रकार उच्चरित वर्णों को घर्षक कहते हैं; जैसे स, ज, श, ष, आदि।

१४. उपचार—सच पूछा जाय तो सभी अर्थ विकार उपचार के अन्तर्गत आ जाते हैं। उपचार और संसर्ग इन्हीं दो की व्याख्या में पूरा अर्थ विचार सामान्यतः आ जाता है। लाक्षणिक प्रयोगों के उदाहरण उपचार के ही उदाहरण हैं। परम्परा प्राप्त शब्दों की व्युत्पत्ति का कारण उपचार ही माना जाता है।

उपचार का साधारण अर्थ है ज्ञात के द्वारा अज्ञात की व्याख्या करना किसी ध्वनि के मुख्य अर्थ के अतिरिक्त उसी ध्वनि के संकेत से एक अन्य सादृश्य तथा सम्बन्धित अर्थ का बोध होता है। आस्ट्रेलिया निवासियों ने प्रथम बार पुस्तक देखने पर उसे मुयूम कहा था। मुयूम उनकी भाषा में स्नायु को कहते हैं। स्नायु भी पुस्तक की भांति खुलती-और बन्द होती है। शब्दों की जीवनी में प्रायः उपचार की लीला देखने को मिलती है। औपचारिक तथा लाक्षणिक प्रयोगों के संस्कृत तथा हिन्दी में प्रचुर उदाहरण मिलते हैं।

उपचार के द्वारा कभी-कभी एक अंग से पूरे अङ्गी का ग्रहण हो जाता है—जैसे चोटी-दाढ़ी का मेल होना कठिन है। उपचार के द्वारा ही लेखक और रचयिता के नाम से ही उसकी सारी कृतियों का बोध हो जाता है। जैसे तुम्हारे लिए 'प्रसाद' का अध्ययन आवश्यक है।

उपचार के द्वारा विशेष ध्वनि में आने वाला बाह्य लक्षण कभी-कभी पूरी वस्तु के लिए उपचरित होता है जैसे लाल पगड़ी = सिपाही।

१५. प्राण ध्वनि—जब काकल के श्वास-स्थान से नाद-स्थान तक आने में एक पूर्व श्रुति होती है तथा ध्वनि का प्रारम्भ क्रमिक होता है। जब ध्वनि उत्पन्न होने तक श्वास सर्वथा अवरुद्ध रह जाता है तब प्रारम्भ स्पष्ट हो जाता है। साधारणतः इन दोनों ही दशाओं में वक्ता की ध्वनि का आघात ठीक स्वर पर ही पड़ता है। पर कभी-कभी वक्ता के उस स्वर के उच्चारण के पहले से ही एक आघात स्वर पर झटके से पड़ता है। स्वर का उच्चारण करने से पूर्व ही कुछ ज़ोर देकर बोलता है। ऐसी स्थिति में उस स्वर के पूर्व एक प्राण ध्वनि सुन पड़ती है—जैसे ए

ओ, अरे की पूर्व श्रुति पर जोर देने से हे, हो और हरे सुनाई पड़ता है। इस प्राण-ध्वनि का आगम बोलियों में मध्य और अन्त में भी पाया जाता है जैसे भोजपुरिया, फटा और खुला को क्रमशः फटहा और ख़ुल्हा कहते हैं।

१६. वल — शब्दों के उच्चारण में अक्षरों पर भी धक्का लगता है उसे वल कहते हैं। ध्वनि कम्पन की लहरों से बनती है। यह वल अथवा आघात उन ध्वनि लहरों के छोटी-बड़ी होने पर निर्भर होता है। मात्रा का उच्चारण काल के परिणाम से सम्बन्ध रखता है और वल का स्वर-कम्पन की छुटाई-बड़ाई के परिणाम से। उसके अनुसार वल में अन्तर पड़ता है।

१७. **वर्त्स्य**—उन वर्णों को कहा जाता है जो तालु के अन्तिम भाग, ऊपरी मसूढ़ों और जिह्वानीक से उच्चरित वर्ण हों—जैसे न और 'न्ह'। दंतमूल से ऊपर जो उभरा हुआ स्थान होता है उसे वर्त्स्य कहते हैं।

१८. **जिह्वामूलीय**—हिन्दी में कुछ ऐसी विदेशी ध्वनियाँ भी आ गई हैं जो जिह्वामूल से उच्चरित होती हैं जैसे ख, क़, ग़,। इन्हें जिह्वा-मूलीय कह सकते हैं।

१९. **पार्श्विक**—जिसके उच्चारण में हवा मुख के मध्य में रुक जाने से जीभ के अगल-बगल से बाहर निकलती है वह वर्ण पार्श्विक होता है हिन्दी 'ल' अथवा अंग्रेजी L।

२०. **लुँठित**—यह उन ध्वनियों को कहते हैं जिनके उच्चारण करते समय जीभ-बेलन की तरह लपेट खाकर तालु का स्पर्श करती है जैसे—'र'।

२१. **स्वर भक्ति**—स्वर भक्ति का शब्दार्थ है स्वर का एक भाग और इस प्रकार पुरोहिति और अपिनिहिति भी इसी के अन्तर्गत आ सकती हैं, क्योंकि उनके भी तो स्वर का एक भाग ही सुन पड़ता है। पर स्वर भक्ति का पारिभाषिक अर्थ यहाँ पर यह है कि अवेस्ता में दो संयुक्त व्यंजनों के बीच से एक ऐसा स्वर आ पड़ता है जिसका छन्द से

कोई सम्बन्ध नहीं रहता। इन दो व्यंजनों में से एक प्रायः 'र' रहता है। इसके अतिरिक्त अवेस्ता में स्वर-भक्ति अन्त में अवश्य उच्चरित होती है। स्वर-भक्ति अधिकतर e, की और कभी-कभी a, i अथवा 'o' की भी होती है।

२२. **नाद**—कंठ-पिटक में स्थिर-स्वर तंत्रियाँ दो होठों के समान होती हैं। उनके बीच के अवकाश को काकल कहते हैं। ये स्वर-तंत्रियाँ रबर की भाँति स्थिति-स्थापक होती हैं। इसीसे कभी वे एक दूसरी से अलग ही रहती हैं और कभी इतनी मिल जाती हैं कि हवा का निकलना असम्भव हो जाता है। जब वे तंत्रियाँ परस्पर मिली रहती हैं और हवा धक्का देकर बाहर निकलती है तब जो ध्वनि उत्पन्न होती है उसे 'नाद' कहा जाता है।

२३. **श्वास**—यह नाद का विपरीत रूप है जब तंत्रियाँ एक दूसरे से दूर रहती हैं और हवा उनमें से होकर बाहर निकलती है तब जो ध्वनि उत्पन्न होती है वह श्वास कहलाती है।

प्रश्न २७—संख्यावाचक विशेषणों की व्युत्पत्ति कीजिए।

भाषा सार्थक ध्वनि संकेतों का समूह होती है, अतः काल गति के साथ-साथ भाषा भी परिवर्तित होती जाती है और भाषा में परिवर्तन होने के कारण ध्वनियों में भी विकार स्वाभाविक रूप से होते हैं। भाषा के प्रत्येक अंग-प्रत्यङ्ग संज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि में विकार विभिन्न प्रकार से नियमानुसार ही होते हैं। भारोपीय परिवार की हिन्दी भाषा के संख्यावाचक विशेषणों में जो ध्वनि परिवर्तन होता है वह विचित्र ही प्रकार का है। संख्यावाचक विशेषण पाँच प्रकार के होते हैं—पूर्ण संख्यावाचक विशेषण, अपूर्ण संख्यावाचक विशेषण, क्रम संख्यावाचक विशेषण, आवृत्ति संख्यावाचक विशेषण तथा समुदाय संख्यावाचक विशेषण। ये विशेषण अन्य हिन्दी शब्दों की भाँति प्राकृतों में होकर संस्कृत में अवतरित नहीं हुए हैं। वरन् आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के विशेषण पाली अथवा मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं की भाँति

किसी अन्य सर्व प्रचलित भाषा से सम्बद्ध हैं। केवल कुछ ही रूपों में प्रादेशिक, प्राकृत अथवा अपभ्रंश की छाप है यथा—गुजराती-बे, मराठी दोनों और बंगाली—दुइ। हिन्दी संख्यावाचक विशेषणों का सर्व प्राचीन और परिष्कृत रूप बीम्स के ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। चेटर्जी ने भी इस विषय में नई सामग्री इकट्ठी की है। इस प्राचीन और नवीन, परिष्कृत और परिमार्जित सामग्री के आधार पर हिन्दी के संख्यावाचक विशेषणों तथा होने वाले ध्वनि-विकारों पर यथातथ्य रूप में विचार किया गया है।

हिन्दी का 'एक' प्राकृत में 'एक्क' और संस्कृत में 'एक' रूप से मिलता है। हिन्दी 'एक' के अनेक रूप मिलते हैं। 'ग्यारह' में 'ग्या' अंग 'प्राकृत' 'एगा' रूप से प्रभावित प्रतीत होता है अर्थात् 'क्' का घोष रूप हो जाता है। संस्कृत एकादश में 'आ' द्वादश के सादृश्य पर ही हुआ है। यह 'आ' प्राकृत तथा हिन्दी दोनों में इसी रूप से आ गया है। संयुक्त संख्याओं में 'ए' का 'इ' रूप हो जाता है यथा—इक्कीस, इकतीस, इकतालीस आदि। इन शब्दों में गुण की ध्वनि 'ए' मूलध्वनि है तथा मूलस्वर 'उ' गुण की ध्वनि का विकार रूप है।

हिन्दी के 'दो' का रूप प्राकृत में 'दो' तथा संस्कृत में 'द्वौ' मिलता है। संस्कृत का 'द्वौ' का 'व' अंश प्राकृत तथा गुजराती में 'बे' में मिलता है। हिन्दी में भी यह रूप संयुक्त संख्याओं में उपलब्ध होता है, यथा बारह, बाइस, बत्तीस, बयालिस आदि। समासों में 'दो' के स्थान पर 'दु,' 'दू' तथा 'दो' रूप मिलता है, जैसे 'दुपट्टा', 'दुधारी', 'दसरा', 'दोहरा', 'दोनों' आदि।

हिन्दी का तीन प्राकृत में तिण्णि तथा संस्कृत में 'त्रीणि' के रूप में मिलता है। संयुक्त संख्याओं में 'ते', 'तें' 'ती' या 'तिर' रूप मिलते हैं जिन पर संस्कृत के 'त्रय' का प्रभाव स्पष्टतः लक्षित होता है। जैसे—तेरह, तेंतीस, तितालीस, तिरपन आदि। ये रूप तिपाई, तिहाई, तेरहा आदि शब्दों में भी मिलते हैं।

हिन्दी का 'चार' प्राकृत में 'चत्तारि' तथा संस्कृत में चत्वारि के रूप में मिलता है। संयुक्त संख्याओं तथा समासों में सं० मूल रूप 'चतुर' तथा प्राकृत 'चउरो' का प्रभाव स्पष्टः दृष्टिगोचर होता है। अतः हिन्दी में 'चौ' तथा चौर रूप मिलते हैं। जैसे चौदह, चौतीस, चौधरी, चौरासी, चौमासा आदि। नवीन समासों में 'चार' का रूप अधिक मात्रा में मिलता है यथा—चारपाई, चारखाना आदि।

हिन्दी का 'पाँच', प्राकृत में 'पंच' तथा संस्कृत में पंच के रूप में मिलता है। संयुक्त संख्याओं के प्राकृत रूप 'पन' तथा 'पण' का प्रभाव भी हिन्दी में पड़ा है। जिससे ध्वनि में परिवर्तन हो जाता है। उदाहरणार्थ—पन्द्रह, पेंतालीस, पेंतीस आदि। कुछ संख्याओं में पन के स्थान पर वन हो जाता है। जैसे इक्यावन, चौवन आदि। अन्य संयुक्त संख्याओं में पाँच का पच प हो जाता है पचपन, पचीस, पचासी आदि। प्राकृत का 'पंच' हिन्दी में अब भी उसी तत्सम रूप में मिलता है। यथा—पंचवटी, पंचांग, पचामृत, पंचपान आदि। कभी-कभी इसका रूप पंच भी हो जाता है जैसे—पंचमेल, पंचमुखी आदि।

हिन्दी में संख्या 'छः' का सम्बन्ध प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा के एक कल्पित रूप 'क्षष्' या 'क्षक' से है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट नहीं हुआ है कि प्राकृत काल से पहले इसका ठीक रूप क्या था।

हिन्दी का सात प्राकृत में 'सत्त' तथा संस्कृत में सप्त है। कुछ संयुक्त संख्याओं में प्राकृत का तत्सम रूप सत्त या सत अब भी इसी रूप में चलता चला आ रहा है। उदाहरणार्थ—सत्तरह, सत्तासी, सत्तानवे आदि। इसके अतिरिक्त 'सैं' रूप भी प्रयुक्त होता है जैसे सैंतीस, सैंतालीस आदि। "सरसठ" या 'सड़सठ' की संख्या अढ़सठ से प्रभावित होकर उसी के सादृश्य पर रख दी गई है।

हिन्दी का 'आठ' प्राकृत में 'अट्ठं' और संस्कृत में अष्ट रूप में मिलता है। संयुक्त संख्याओं में 'अट्ठ', अठा, अठ आदि रूप मिलते हैं

जैसे अट्ठाईस, अठारह, अठहत्तर आदि। 'अठ' का 'अड़' रूप होकर अड़तालीस, अड़सठ आदि रूप भी बनते हैं।

हिन्दी का 'नौ' प्राकृत में 'नआ' और संस्कृत में 'नव' के रूप में मिलता है। संयुक्त संख्याओं की रचना 'नौ' के प्रयोग से नहीं बनती, वरन् दहाई की संख्या में संस्कृत 'ऊन' (एक कम), प्राकृत ऊण तथा हिन्दी का 'उन' लगाकर बनती हैं। जैसे उन्नीस, उनासी, उनतालीस आदि। केवल नवासी और निन्यानवे में 'नौ' का प्रयोग होता है। इन संख्याओं में संस्कृत में भी यही रूप होता है, जैसे—संस्कृत नवाशीति, नवनवीत।

हिन्दी का 'दस' प्राकृत में 'दस' और संस्कृत में 'दश' के रूप में मिलता है। ग्यारह आदि संयुक्त संख्याओं में प्राकृत के दह, रह, लह आदि समस्त रूप वर्तमान हैं, जैसे चौदह, अठारह, सोलह आदि। हिन्दी में 'र' का 'ल' या 'स' का 'ह' हो जाना साधारण परिवर्तन है। दिहाई की संख्याओं के नाम प्रायः प्राकृत में होकर संस्कृत के उद्भासित हुए हैं।

हिन्दी का 'वीस' प्राकृत में 'वीसइ' तथा संस्कृत में विंशति के रूप में मिलता है। हिन्दी कोड़ी शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से कोल शब्द माना जाता है। चौवीस और छब्बीस के अतिरिक्त इक्कीस आदि सभी संयुक्त संख्याओं में 'वीस' की 'ईस' ध्वनि रह जाती है; उदाहरणार्थ—बाईस, तेईस, चौवीस, पच्चीस आदि।

हिन्दी का 'तीस' प्राकृत में 'तीसा' और संस्कृत में 'त्रिंशत्' के रूप में आता है। संयुक्त संख्याओं में 'तीस' रूप ही रहता है, जैसे—इकतीस, बत्तीस, तेंतीस आदि। 'चालीस' हिन्दी रूप प्राकृत में 'चत्तालीसा' और संस्कृत में चत्वारिंशत् मिलता है। संयुक्त संख्याओं में प्राकृत के 'च' का लोप होकर चालीस का 'तालीस' और 'त' के लुप्त हो जाने से यालीस या आलीस रूपान्तर हो जाते हैं। जैसे—इकतालीस, चवालीस आदि।

हिन्दी का पचास प्राकृत में 'पंचासा' और संस्कृत में पंचाशत् हो जाता है। संयुक्त संख्याओं में पचास के स्थान पर 'पन' अथवा 'वन'

और 'अन' रूपान्तर हो जाते हैं। इनका सम्बन्ध प्राकृत के पंचासा के प्रचलित रूप पराासा, पन्ना आदि से विदित होता है, जैसे—हिन्दी का बावन प्राकृत में बावरा, तिरपन, चौअन आदि मिलता है। उनन्चास में पच्चास का रूपान्तर है। हिन्दी का साठ प्राकृत में 'सठ्ठि' तथा संस्कृत में षष्टि हो जाता है। संयुक्त संख्याओं में सठ रूप हो जाता है। जैसे इकसठ, बासठ, तरेसठ, आदि।

हिन्दी के सत्तर का प्राकृत में सत्तरि और संस्कृत में सप्तति हो जाता है। पाली में भी अन्तिम 'त' ध्वनि 'र' में परिवर्तित हो गई थी। चेटर्जी के मतानुसार प्राचीन रूप, 'संत्तति' में 'ति' स्वयमेव ही 'टि' हो गया और टिडि होकर 'टि' में परिवर्तित हो गया है। परन्तु इस मत से भाषा वैज्ञानिकों की सन्तुष्टि नहीं हुई है। फिर भी तो माननीय है कि हिन्दी के 'सत्तर' में 'र' प्राकृत की ही देन है। संयुक्त संख्याओं में 'सत्तर' के 'स' का 'ह' हो जाता है। जैसे—उनहत्तर, इकहत्तर, बहत्तर आदि। सतत्तर में 'ह' का लोप हो गया है, तथा अठत्तर में 'ह' 'ट' को महाप्राण करके उसमें मिल जाता है।

हिन्दी का 'अस्सी' रूप प्राकृत में 'असीइ' और संस्कृत में 'अशीति' मिलता है। संयुक्त संख्याओं में आसी अथवा यासी रूप मिलता है जैसे—उनासी, बयासी आदि। अस्सी में 'स' का दुगुना हो जाना पंजाबी से ही प्रभावित है। हिन्दी का नब्बे प्राकृत में 'नव्वए' और संस्कृत में नवति मिलता है। संयुक्त संख्याओं में 'नव्वे' रूप मिलता है। जैसे—इक्यानवे, बानवे, तिरानवे आदि।

हिन्दी का 'सौ' प्राकृत में 'सअ' सप तथा संस्कृत में शत के रूप में मिलता है। संयुक्त संख्याओं में 'सै' रूप भी मिलता है। तथा—सैकड़ा एक सै एक, चार सै आदि। हिन्दी का हजार फारसी का तत्सम शब्द है। संस्कृत सहस्त्र के स्थान में स० दशशत् प्रचार में हो गया था, कदाचित इसी कारण से फारसी का एक शब्द हजार मुस्लिम काल से

समस्त उत्तर भारत में प्रचलित हो गया। हिन्दी के लाख का संस्कृत में लक्ष रूप मिलता है। समासों में लख रूप हो जाता है, यथा—लखपति। अरब और खरब का प्रयोग साधारणतः असंख्य का बोध कराने के निमित्त किया जाता है।

अपूर्ण संख्यावाचक विशेषणों से पूर्ण संख्या के किसी भाग का बोध होता है। हिन्दी का पाव, पउआ, प्राकृत में पाँव, पाअ और संस्कृत में पाद और पादक मिलते हैं। संयुक्त रूपों से संस्कृत 'पादिका' में आया हुआ 'पई' रूप भी मिलता है यथा अधपई। हिन्दी का चौथाई संस्कृत में चतुर्थिक से सम्बन्ध है। हिन्दी का ढाई अथवा अढ़ाई प्राकृत में अड़्-तीय और संस्कृत में अर्द्धतृतीय मिलता है। हिन्दी का ढ़ाई भी संस्कृत के अर्द्धतृतीय से सम्वन्ध है। 'अ' का लोप वलाघात के कारण हुआ है। हिन्दी का सवा प्राकृत में सवाअ और संस्कृत में सपाद के रूप में मिलता है। सवा के अनेक रूपान्तर हो जाते हैं, जैसे—सवाया, सवाई, सवाये इत्यादि।

क्रम संख्यावाचक विशेषणों का सम्वन्ध संस्कृत के प्रचलित क्रम वाचक रूपों से सीधा नहीं होता, वरन् संस्कृत के आधार पर नये ढंग से ये बाद में बने हैं। हिन्दी में 'पहला' प्राकृत में आकर 'पढिल्ल' अथवा 'पथिल्ल' और संस्कृत में 'प्र--थ + इल' हो जाता है। संस्कृत के 'प्रथम' से आधुनिक प्रचलित शब्द 'पहला' की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। बीम्स के मतानुसार हिन्दी के 'पहला' रूप क्रम संख्यावाचक विशेपण का सम्वन्ध संस्कृत के 'प्रथर' से सम्भव है। संस्कृत की द्वितीया और तृतीया हिन्दी का दूजा और तीजा का उद्‌भाव तो सम्भावित है परन्तु दूसरा और तीसरा का विकास असम्भव प्रतीत होता है। बीम्स का कहना है कि इनका सम्वन्ध संस्कृत की 'द्वि + सृतः; 'त्रिः + सृत' से होता है। इस प्रकार चार की संख्या तक क्रमवाचक विशेपणों की व्युत्पत्ति भिन्न-भिन्न ढंग से हुई है। इसके आगे 'वाँ' लगाकर भिन्न-भिन्न रूप बनाये जाते हैं। उदाहरणार्थ—पाँचवाँ, सातवाँ, बीसवाँ इत्यादि। यह रूप

संस्कृत 'तम' से प्रसूत माने जाते हैं। यह संस्कृत पृष्ठ का ही रूपान्तर है।

आवृत्ति संख्यावाचक विशेषण दुगुना, तिगुना, चौगुना, संस्कृत गुण लगाकर बनते हैं। हिन्दी में कुछ समुदायवाचक विशेषण भी प्रचलित हैं, परन्तु यह प्रायः अन्य भाषाओं से अवतरित हुए हैं। कौड़ियों की गिनती करने में चार के लिए गंडा शब्द प्रयुक्त होता है। बीस की संख्या के लिए कौड़ी शब्द और बारह की संख्या के लिए आधुनिक प्रचलित अंग्रेजी शब्द दर्जन उपयुक्त समझा गया है। अंग्रेजी शब्द ग्रोस बारह के लिए कुछ प्रचलित हो गया है। इसी प्रकार और भी अनेक शब्द हैं जो समुदाय के रूप में प्रयुक्त होने लगे हैं।

प्रश्न २८—हिन्दी कारक चिह्नों का उद्गम बतलाइए।

संज्ञा के विकृत रूप में कारक चिह्न लगा कर हिन्दी विभक्तियों के रूप बनाए जाते हैं। प्राचीन तथा मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं के संयोगात्मक रूपों के धीरे-धीरे घिस जाने पर मध्यकाल के अंत में संज्ञा का प्रायः मूलरूप भिन्न-भिन्न विभक्तियों में प्रयुक्त होने लगा था। ऐसी स्थिति में अर्थ समझने में कठिनाई पड़ती थी इसलिए भिन्न-भिन्न कारकों के अर्थों को स्पष्ट करने के लिए ऊपर से पृथक् शब्द इन मूल रूपों के साथ जोड़े जाने लगे। हिन्दी के वर्तमान कारक चिह्न मध्यकाल के अंत काल में लगाए जाने वाले इन्हीं सहकारी शब्दों के अवशेष मात्र हैं। घिसते-घिसते ये इतने छोटे हो गये हैं कि इनके मूलरूपों को पहचानना प्रायः दुस्तर हो गया है। इसके अतिरिक्त भाषा के साधारण शब्द समूह में इनका पृथक् अस्तित्व नहीं रह गया है इसी कारण इन्हें संज्ञा के मूलरूपों के साथ लिखने की प्रवृत्ति हो रही है।

भिन्न-भिन्न कारकों में प्रयुक्त चिह्न नीचे दिये जाते हैं, साथ ही व्युत्पत्ति पर भी विचार किया गया है।

कर्त्ता और करण कारक

हिन्दी में कर्त्ता के रूपों में कोई भी कारक चिह्न प्रयुक्त नहीं होता।

संस्कृत तथा प्राकृत में भी अधिकांश संज्ञाओं में प्रथमा के रूपों में परिवर्तन नहीं होता है।

सप्रत्यय कर्त्ता कारक का चिह्न 'ने' पश्चिमी हिंदी की विशेषता है। बोलना, भूलना, बकना, लाना, समझना, जाना आदि सकर्मक क्रियाओं को छोड़ शेष सकर्मक क्रियाओं के और नहाना, छींकना, खाँसना आदि अकर्मक क्रियाओं के भूतकालिक कृदंत से बने कालों के साथ सप्रत्यय कर्त्ता कारक आता है।

'ने' कारक चिह्न की व्युत्पति के सम्बन्ध में बहुत मतभेद है। बीम्स इसका विचार करण कारक के अंतर्गत करते हैं और इसे कर्मणि तथा भावे प्रयोग का अर्थ देने वाला बताते हैं। बीम्स का कहना है कि गुजराती जैसी प्राचीन भाषा तक में करण तथा संप्रदान कारकों का एक दूसरे के लिए प्रयोग होता रहा है। नेपाली में भी संप्रदान तथा करण कारक के चिह्न बहुत मिलते जुलते हैं। नेपाल में संप्रदान में लाई तथा करण में ले का प्रयोग होता है। पुरानी हिन्दी के कर्म कारक के चिह्न नैं तथा आधुनिक हिन्दी के कारक चिह्न ने में भी साम्य है। नें गुजराती में भी कर्म सम्प्रदान के लिये प्रयुक्त होता है। मराठी में नें करण का चिह्न है। बीम्स इन सबसे यह निश्कर्ष निकालते हैं कि वास्तव में सम्प्रदान तथा करण के चिह्न व्युत्पत्ति की दृष्टि से समान थे। इस तरह से उनके मतानुसार ने का सम्बन्ध लगि, लागि जैसे शब्दों से है।

ट्रंप तथा कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि ने का सम्बन्ध संस्कृत की अकारान्त सँज्ञाओं के करण कारक के चिह्न एन से हैं। इस सम्बन्ध में आपत्ति यह की जाती है कि संस्कृत का यह चिह्न प्राकृत के अन्तिम रूपों तथा चन्द के ग्रन्थ में भी कुछ स्थलों पर मिलता है। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में मराठी में यह 'ए' के रूप में वर्तमान है। इस तरह एन के न का धीरे-धीरे लोप होता गया है। फिर एन का ने होना कैसा सम्भव है। यदि—एन के स्थान पर संस्कृत में नेन जैसा कोई

चिह्न होता तो उसे ने होना सम्भव था किन्तु ऐसा कोई भी चिह्न संस्कृत या प्राकृत में नहीं मिलता।

इस व्युत्पत्ति के विरोध में बीम्स का यह तर्क भी विचार करने के योग्य है उनका कहना है यदि ने प्राचीन करण कारक के चिह्न का रूपान्तर होता तो पुरानी हिन्दी में इसके प्रयोग का बाहुल्य होना चाहिये था। वास्तव में बात उलटी है। पुरानी हिन्दी में ने का प्रयोग बहुत कम मिलता है। आधुनिक हिन्दी में आकर ही इसका प्रचार अधिक हुआ। संस्कृत के करण कारक का कोइ भी चिह्न हिन्दी में नहीं रह गया था। ऐसी परिस्थिति में बीम्स के मतानुसार १६वीं १७वीं शताब्दी के लगभग सम्प्रदान कारक के लिये प्रयुक्त ने का प्रयोग (जैसे—मैं ने दे दे) करण कारक की कुछ क्रियाओं के साथ भी होने लगा होगा। हार्नली का कहना है कि सम्प्रदान के लिये ब्रज में कौं को और मारवाड़ी में नैं, ने का प्रयोग होता था। सम्भव है नैं या ने को सम्प्रदान के लिये अनावश्यक समझकर इसे सप्रत्यय कर्ता या करण कारक के लिये ले लिया गया हो। प्राचीन संयोगात्मक कारकों के अवशेष यदि आधुनिक भाषाओं में कहीं रह गये हैं तो संयोगात्मक रूपों में ही रह गये हैं। ने हिन्दी में पृथक कारक चिह्न है। बीम्स के मतानुसार इस बात से भी पुष्टि होती है कि ने संस्कृत-एन का रूपान्तर नहीं है।

ब्लाक ने ग्रियर्सन का मत उद्धृत करते हुए कहा है कि ने का सम्बन्ध स०-तन-से होना सम्भव है। वास्तव में ने की व्युत्पत्ति संदिग्ध है। निश्चयपूर्वक इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता है।

कर्म तथा सम्प्रदान

हिन्दी तथा हिन्दी की बोलियों में कर्म और सम्प्रदान के लिये प्रायः एक ही प्रकार के कारक-चिह्न प्रयुक्त होते हैं। खड़ी बोली में को दोनों विभक्तियों में आता है। सम्प्रदान में के लिए रूप विशेष आता है।

ट्रंप[1] के मतानुसार को की उत्पत्ति संस्कृत से हुई है जो प्राकृत में कितो ∠ किओ होकर 'को' रूप धारण कर सकता है। प्राकृत में वास्तव

में कतं और कदं रूप मिलते हैं। इस सम्बन्ध में सबसे बड़ी कठिनाई हिन्दी के प्राचीन रूप कहु के सम्बन्ध में है। ट्रंप का अनुमान है कि कृतं की जब ऋ का लोप हुआ होगा तब त महाप्राण हो गया होगा। यह विचारशैली बहुत मान्य नहीं दिखलाई पड़ती।

हार्नली और वीम्स[2] को का सम्बन्ध सं० कक्षं से जोड़ते हैं। चेटर्जी[3] आदि अन्य आधुनिक विद्वान भी इस व्युत्पत्ति को भी असम्भव नहीं मानते। कक्षं ∠ कक्खं ∠ काँख ∠ काँह ∠ कहुँ ∠ कहँ ∠ कौं ∠ को, ये परिवर्तन की सम्भव सीढ़ियाँ हैं। अर्थ की दृष्टि से भी कक्षं 'बगल में' को 'निकट, ओर' से अधिक साम्य रखता है। हिन्दी बोलियों में को से मिलते-जुलते रूपों की व्युत्पत्ति भी कक्षं से ही मानी जाती है।

हिन्दी के लिये के का सम्बन्ध प्रायः सं० कृते से जोड़ा जाता है। सत्यजीवन वर्मा[4] के को भी सम्बन्धकारक के प्राचीन चिह्न 'केरक' का रूपांतर मानते हैं। इस मत में को भी केहि का रूपांतर है जिसमें के अंश का केरक का विकसित रूप है और हि अंश अपभ्रंश की सप्तमी विभक्ति का चिह्न है। किन्तु को तथा के की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में यह मत अन्य विद्वानों द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता है, प्रथम मत ही सर्वमान्य है।

के लिये अंश का सम्बन्ध सं० लग्ने से माना जाता है। हार्नली[1] के अनुसार के लिए की उत्पत्ति सं० लब्धे लाभार्थे, से हुई है। किन्तु यह मत सर्वमान्य नहीं है। सम्भव है कि इसका सम्बन्ध प्रा० ∠ ले से हो। हिन्दी बोलियों के लगे, लागि आदि रूपों की व्युत्पत्ति भी लिए के ही समान मानी जाती है। सं० लग्ने ∠ प्रा० लग्ने, लग्गि ∠ हि० बो० लागि, लगे ये सम्भव परिवर्तन हैं।

हिन्दी बोलियों में प्रयुक्त चतुर्थी के अन्य मुख्य शब्दों की व्युत्पत्ति हार्नली के मतानुसार संक्षेप में नीचे दी जाती हैं।

हि० बो० ठाई ∠ अप० प्रा० ठाणि, ठाणे ∠ सं० स्थाने;
हि० बो० पाहि ∠ अप० प्रा० पक्खे, पहि ∠ सं० पक्षे;
हि० बो० कने ∠ अप० कणे ∠ सं० कर्णे;

हि० बो० काज ∠प्रा० कज्जे ∠सं० कार्ये;
हि० बो० ताईं तईं ∠अप० तरिए, तइए ∠सं० तरिते;
हि० बो० बाटे / प्रा० वट्ट क्त ∠सं० वार्ते;
हि० बो० वरे ∠सं० वरे;

उपकरण तथा अपादान

करण के चिह्न ने पर विचार किया जा चुका है। उपकरण के लिए हिन्दी में से (अव० से, सन; व्रज० सों; सूँ; बुंदेली सें) का प्रयोग होता है। यही चिह्न तथा कुछ अन्य विशेष चिह्न अपादान के लिए भी प्रयुक्त होते हैं।

बीम्स के मतानुसार से का वास्तविक अर्थ 'साथ' है, 'अलग होना' नहीं है, जैसे राम से कहता है, चाकू से कलम बनाओ। अतः व्युत्पत्ति की दृष्टि से बीम्स से का सम्बन्ध संस्कृत अव्यय सम से जोड़ते हैं। हार्नली[1] से का सम्बन्ध प्रा० सन्तों तथा सं० ∠अस् से लगाते हैं आजकल प्रायः बीम्स का मत ही मान्य समझा जाता है।

केलाग के अनुसार व्रज तें या ते का सम्वन्ध सं० प्रत्यय तः से है, जो अपादान के अर्थ में संस्कृत संज्ञाओं में प्रयुक्त होता था; जैसे सं० पितृत; व्रज पिता तें।

सम्बन्ध

संबंध के रूपों का संबंध क्रिया से न होकर संज्ञा से होता है। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि हिन्दी में संबंध सूचक कारक चिह्नों में आगे आने वाली संज्ञा के अनुसार लिंग भेद होता है, जैसे लड़के का लोटा; लड़के की गेंद।

हिन्दी पुलिंग एक वचन में का (व्रज को या कौ; अव० कर् केर्) बहुवचन में के, तथा स्त्रीलिंग में की का व्यवहार होता है।

इन रूपों की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में बीम्स तथा हार्नली एक मत हैं। इनकी धारणा है कि समस्त रूप सं० कृतः तथा प्रा० के केरक से

नियम लगते हैं। तद्भव शब्द प्रायः सीधे प्राकृत से हिन्दी में आये हैं जैसे साँप, काज, बच्चा इत्यादि। संस्कृत शब्दों से भी बहुत से हमारी भाषा में मिल गये हैं। (ऐसे शब्द जो संस्कृत से हिन्दी में आये हैं उन्हें तत्सम कहते हैं) देह, फल, राजा, पिता आदि ऐसे ही शब्द हैं। हिन्दी में कुछ शब्द ऐसे हैं जो वस्तुतः संस्कृत के हैं परन्तु प्राकृत भाषाओं द्वारा युक्त विकर्ष (संयुक्त वर्णों का विश्लेषण) हो गया है। जैसे अग्नि, किरण, किशन ये अर्धतत्सम शब्द हैं।

हिन्दी में कुछ ऐसे शब्द भी मिलते हैं जिनकी व्युत्पत्ति का कोई पता नहीं चलता जैसे तेन्दुआ, खिड़की, ठेस, पेड़ आदि।

हिन्दी में एक और प्रकार के शब्द पाये जाते हैं जो किसी वास्तविक या कल्पित पदार्थ की ध्वनि पर बने है और जिन्हें अनुकरण मूलात्मक शब्द कहते हैं। खटखटाना, धमकाना आदि कुछ ऐसे भी शब्द हैं जो कहने को तत्सम कहे जाते हैं परन्तु तत्सम है नहीं जैसे श्राप, सिंचन आदि। कुछ शब्द अन्य संस्कृतज्ञों के गढ़े हुए चले आ रहे हैं। राष्ट्रीय, पौराणिक, उन्नायक आदि ऐसे ही शब्द हैं। इन्हें चाहे तो तत्समाभास कह सकते हैं।

हिन्दी में कुछ ऐसे शब्द भी हैं जो न तो तत्सम हैं न तद्भव और न देशज ही हैं। जैसे मौसी 'शब्द' का पुलिङ्ग मौसा। ऐसे शब्दों का अभी नामकरण नहीं हुआ है। यह शब्द अर्धतद्भव और त्‌भवाभास कहे जा सकते हैं।

हमारी भाषा में कुछ शब्द ऐसे हैं जो या तो दो भाषाओं के समास से बने है। जैसे सरदार, काटना, अकाट्य, गुरूड़म। उन्हें द्विज शब्द कहा जाता है। कभी-कभी किसी शब्द का सादृश्य या सम्बन्ध बोध न करने के लिए आवृत्ति कर दी जाती है। जैसे लोटा-ओटा। हिन्दी पर इस प्रकार प्रति ध्वनि की सृष्टि पर बने हुए शब्द द्राविड़ भाषा में बहुत अधिक हैं।

भारतवर्ष की अन्यान्य भाषाओं तथा विदेशियों की भाषा का भी

हिन्दी पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। द्राविड़ भाषाओं के बहुत से शब्द संस्कृत और प्राकृतों में मिल गए हैं। ग्रियर्सन की सम्मति है कि द्राविड़ भाषाओं के केवल शब्द ही हमारी भाषाओं में नहीं आये बल्कि उनके व्याकरण का भी प्रभाव है। ध्यान रखना चाहिए कि इस कथन से डा० ग्रियर्सन का तात्पर्य इतना ही है कि द्राविड़ विभक्तियों की अनुरूपता हमारी विभक्तियों के जिस रूप में पाई गई है वही रूप अधिक ग्राह समझा गया है। मिस्टर K. Lavse का कहना है कि टवर्ग अक्षरों से आरम्भ होने वाले अधिकांश शब्द द्राविड़ भाषा के हैं। इस सम्बन्ध में यह बात विस्मृत न होनी चाहिये कि भारतवर्ष के आदिम निवासियों की भाषाओं का जो प्रभाव आधुनिक भाषा पर पड़ा है वह प्राकृतों के द्वारा पड़ा है।

अन्य कई आधुनिक आर्य भाषाओं के शब्द भी हिन्दी में मिलने लग है जैसे १—मराठी—प्रगति लागू, चालू, बाबू २—गुजराती—हड़ताल आदि। इस प्रकार कुछ अनार्य भाषाओं के शब्द भी हिन्दी में चल निकले हैं जैसे ३—तामिल—पिल्हई से पिल्ला। ४—तिब्बति चुभी, ५—चीनी का चाय, मलय का साबू।

हिन्दी के शब्द भंडार पर मुसलमानों और अंग्रजों की भाषाओं का भी कुछ कम प्रभाव नहीं पड़ा है। मुसलमानों द्वारा अरबी, फारसी और तुर्की इन तीनों भाषाओं के शब्द हमारी बोल-चाल का भाषा में अधिकता से आ मिले हैं। जैसे अरबी—इमतहान, औरत, फारसी—आदमी आबादी, दुकान। तुर्की—तोप, लाश, कौतल (घोड़ा)।

परन्तु ध्यान रखना चाहिए कि इनमें अधिकांश शब्दों का रूपात्मक विकास में आगम हुआ है (यह एक साधारण सिद्धान्त है कि ग्राह भाषा का विजातीय उच्चारण ग्राहक भाषा के अनुकूल होता है। इसी सिद्धान्त के अनुसार यावनिक शब्दों का हिन्दी में रूपान्तर हुआ है)। इन शब्दों में आगम विपर्यय और लोप सम्बन्धी नियम भी प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते

हैं, जैसे मर्द से मरद, धिक् से धिक्कार, अमानत् से अनामत् इत्यादि। योरोपियन भाषाओं के शब्द भी हमारी भाषा में मिल गये हैं और इनकी संख्या भी कम नहीं है जैसे पुर्तगाल, पिस्तौल, पलटन, कैमरा। फ्रेंच Cartouche से कारतूस। डच—Troch तुरूप आदि।

इनमें अंग्रेजी भाषा के शब्द बहुत अधिक हैं। इन शब्दों में से कुछ तो तत्सम रूप में आये हैं पर अधिकांश शब्द तद्भव रूप में आये हैं। तत्सम रूप के उदाहरण में हैं—इन्च, फुट-प्रमानिया बेंच, बोर्ड, बटन।

तद्भव शब्दों के सम्बन्ध में आगम विपर्यय और लोप के नियमों का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है, जैसे—

१. आगम—Sample-सैम्पुल, Recruite रंगरूट-Dozen-दर्जन।

२. विपर्यय—Desk डिक्स।

३. लोप—Report—रपट Pentloun—पतलून Lantern—लालटेन—Quinine—कुनैन।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि शब्दों के रूपात्मक विकास में आगम लोप विपर्यय इत्यादि नियमों में से कोई एक नियम किसी एक शब्द होने में नहीं लगता। वरन् दो या अधिक नियम भी एक साथ लग जाया करते हैं।

यदि हम प्रत्येक शब्द के विषय में सूक्ष्म विश्लेषण न करके एक व्यापक नियम के आधार पर विचार करें तो पता चलता है कि वह नियम यह है जब एक भाषा से दूसरी भाषा में कोई शब्द आता है तब वह शब्द निकटतम भिन्नाक्षर सम्बन्ध से, जो उस भाषा में पहले वर्त्तमान रहता है, प्रभावित होकर कुछ अक्षरों को जोड़कर उसके अनुरूप बना लिया जाता है।

प्रश्न ३०—हिन्दी के साहित्यिक और ग्रामीण रूप बतलाइए।

हिन्दी के आधुनिक साहित्यिक रूप तीन हैं—हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी।

हिन्दी—हिन्दी शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में एक नियम है। संस्कृत की 'स' ध्वनि फारसी में 'ह' के रूप में पाई जाती है। अतः संस्कृत के सिंधु और सिन्धी शब्दों में फारसी रूप हिन्द या हिन्दी हो जाते हैं। प्रयोग तथा रूप की दृष्टि से हिंदवी या हिंदी शब्द फारसी भाषा का हा है। संस्कृत प्राकृत अथवा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के किसी भी प्राचीन ग्रंथ में इसका व्यवहार नहीं किया गया। हिन्दी शब्द के अतिरिक्त फारसी से ही हिन्दू शब्द भी आया है। हिन्दू शब्द का व्यवहार फारसी में इस्लाम को न मानने वाले के लिए प्रचलित है।

वैसे शब्दार्थ की दृष्टि से 'हिन्दी' शब्द का अर्थ हिन्द या भारत में बोली जाने वाली किसी भी आर्य, द्रविड़ या अन्य कुल की भाषा के लिए हो सकता है। किन्तु आजकल इसका उत्तर भारत के मध्यदेश के हिन्दुओं की वर्तमान साहित्यिक भाषा के अर्थ में, तथा इसी भूमिभाग की बोलियों और उनसे सम्बन्ध रखने वाले प्राचीन साहित्यिक रूपों के अर्थ में साधारणतया होता है। इस भूमिभाग की सीमाएँ पश्चिम में जैसलमेर, उत्तर पश्चिम में अम्बाला, उत्तर में शिमला से लेकर नैपाल के पूर्वी छोर तक के पहाड़ी प्रदेश का दक्षिणी भाग, पूर्व में भागलपुर दक्षिण-पूर्व में रायपुर और दक्षिण पश्चिम में खँडवा तक पहुँचती है। इस भूमिभाग में हिन्दुओं के आधुनिक साहित्य पत्र-पत्रिकाओं शिष्ट बोल-चाल तथा स्कूल की शिक्षा एकमात्र हिन्दी में है। इस भूमिभाग की ग्रामीण बोलियों जैसे मारवाड़ी, ब्रज, छत्तीसगढ़ी, मैथिली आदि तथा प्राचीन ब्रज, अवधी आदि साहित्यिक भाषाओं को भी हिन्दी भाषा के अन्तर्गत माना जाता है।

इस भूमिभाग की हिन्दी के दो रूप माने जाते हैं जो पश्चिमी और पूर्वी हिन्दी कहलाते हैं। हिन्दी की इस पश्चिमी और पूर्वी बोलियों के

बोलने वालों की संख्या लगभग ८ करोड़ है। भाषा-शास्त्र की दृष्टि से इस भूमिभाग में बोली जाने वाली बोलियाँ तथा उनकी आधारभूत साहित्यिक भाषाओं के अर्थ में हिन्दी भाषा ही है।

उर्दू—आधुनिक साहित्यिक हिन्दी के उस दूसरे साहित्यिक रूप का नाम, जिसका व्यवहार उत्तर भारत के पढ़े-लिखे मुसलमानों तथा उनके सम्पर्क में आने वाले कुछ हिन्दुओं जैसे पंजाबी, देहली काश्मीरी तथा पुरानी पीढ़ी के कायस्थों आदि में पाया जाता है। व्याकरण के रूपों की दृष्टि से इन दोनों साहित्यिक भाषाओं में विशेष अन्तर नहीं है, किन्तु साहित्यिक वातावरण, शब्द-समूह तथा लिपि में आकाश-पाताल का भेद है। हिन्दी इन सब बातों के लिए भारत की प्राचीन संस्कृति तथा उसके वर्तमान रूप की ओर देखती है। उर्दू भारत के वातावरण में उत्पन्न होने और बढ़ने पर भी ईरान और अरब की सभ्यता और साहित्य से जीवन-विश्वास ग्रहण करती है।

ऐतिहासिक दृष्टि से साहित्यिक खड़ी बोली की अपेक्षा उर्दू खड़ी बोली का व्यवहार पहले होने लग गया था। मुसलमानों के भारतवर्ष में आने पर बहुत दिनों तक मुसलमानों का केन्द्र दिल्ली रहा। अतः फारसी, तुर्की और अरबी बोलने वाले मुसलमानों ने जनता से बातचीत और व्यवहार करने के लिये धीरे-धीरे दिल्ली के अड़ोस-पड़ोस की बोली सीखी। इस बोली में अपने विदेशी शब्द-समूह को स्वतन्त्रता पूर्वक मिला लेना इसके लिये स्वाभाविक था। तुर्की भाषा में उर्दू शब्द का अर्थ बाजार है। वास्तव में आरम्भ में उर्दू बाजारू भाषा थी। शाही दरबार से सम्बन्ध रखने वाले हिन्दुओं का इसे अपनाना स्वाभाविक था। अतः उर्दू का जन्म और प्रचार इसी प्रकार हुआ।

उर्दू का मूलाधार दिल्ली के निकट की खड़ी बोली है। यही बोली आधुनिक साहित्यिक हिन्दी की भी मूलाधार है। अतः जन्म से उर्दू और आधुनिक साहित्यिक हिन्दी सगी बहनें हैं। विकसित होने पर इन दोनों में अन्तर हुआ।

उर्दू का साहित्य में प्रयोग दक्षिण के सूफ़ी कवियों और मुसलमानी दरबार से आरम्भ हुआ। उस समय तक दिल्ली आगरा के दरबार में साहित्यिक भाषा का स्थान फ़ारसी को मिला हुआ था। साधारण जन-समुदाय की भाषा होने के कारण अपने घर पर उर्दू हेय समझी जाती थी। औरंगाबादी वली उर्दू के प्रथम कवि माने जाते हैं। वली के कदमों पर ही लखनऊ तथा दिल्ली के मुसलमानी दरबारों में उर्दू भाषा में कविता होने लगी। दक्षिणी मुसलमानों की भाषा दक्खिनी उर्दू कहलाती है। इसमें फ़ारसी के कम शब्द इस्तेमाल होते हैं। आगरा और दिल्ली की ओर इसका अधिक प्रचार है। अब हिन्दी-भाषी-प्रदेशों में भी उर्दू का प्रचार बढ़ता जा रहा है।

हिन्दुस्तानी—हिन्दुस्तानी नाम यूरोपीय लोगों का दिया हुआ है। उर्दू का बोलचाल वाला रूप हिन्दुस्तानी कहलाता है। केवल बोलचाल में प्रयुक्त होने के कारण इसमें फ़ारसी शब्दों की भरमार नहीं रहती यद्यपि इसका झुकाव फ़ारसी की तरफ ही है। उत्पत्ति की दृष्टि से इसका आधार भी खड़ी बोली ही है। एक तरफ से यह हिन्दी उर्दू की अपेक्षा खड़ी बोली के अधिक निकट है। क्योंकि यह फ़ारसी और संस्कृत के प्रभाव से मुक्त है। दक्षिण के ठेठ द्राविड़ प्रदेशों को छोड़कर शेष समस्त भारत में उर्दू का यह व्यवहारिक रूप हर जगह समझ लिया जाता है। कलकत्ता, बम्बई, कराची से लेकर लाहौर, देहली, लखनऊ आदि सभी में हिन्दुस्तानी ही बोली जाती है। हिन्दी और उर्दू तो साहित्यिक खड़ी बोली मात्र हैं। हिन्दुस्तानी शिष्ट लोगों की बोलचाल की कुछ परिमार्जित बोली है।

हिन्दी की ग्रामीण बोलियाँ

प्राचीन मध्यदेश की मुख्य बोलियों के समुदाय को भाषा शास्त्र की दृष्टि से हिन्दी नाम से पुकारा जाता है। इनमें से खड़ी बोली, बाँगरू, ब्रज, कनौजी, बुंदेली ये पाँच बोलियाँ भाषा सर्वे के आधार पर पश्चिमी

हिन्दी कहलाती है तथा अवधी, बघेली,- छत्तीसगढ़ी इन तीनों को पूर्वी हिन्दी के नाम से पुकारा जाता है।

खड़ी बोली—यह बोली पश्चिमी रुहेलखंड गंगा के उत्तरी दोआब तथा अंबाला की बोली है। मुसलमानी प्रभाव के निकटतम होने के कारण ग्रामीण खड़ी बोली में भी फ़ारसी अरबी के शब्दों का व्यवहार हिन्दी की अन्य बोलियों की अपेक्षा अधिक है। किन्तु ये प्राय: अर्द्धतत्सम अथवा तद्भव रूपों में प्रयुक्त होते हैं। खड़ी बोली निम्न स्थानों में बोली जाती है। रामपुर रियासत, बिजनौर, मेरठ, सहारनपुर देहरादून, पटियाला का पूर्वी भाग आदि। इस बोली के बोलने वालों की संख्या ५३ लाख के लगभग है।

बाँगरू—बाँगरू बोली दिल्ली, करनाल, रोहतक, हिसार, नाभा, जिंद की रियासतों के गाँवों में बोली जाती है। एक प्रकार से यह पंजाबी और राजस्थानी मिश्रित खड़ी बोली है। हिन्दी भाषी क्षेत्र पानीपत और कुरुक्षेत्र भी इसी बोली की सीमा के अन्तर्गत हैं। वास्तव में यह खड़ी बोली का ही एक उपरूप है और इसको हिन्दी की स्वतन्त्र बोली मानना उचित है।

ब्रजभाषा—प्राचीन हिन्दी साहित्य की दृष्टि से ब्रज की बोली की गिनती साहित्यिक भाषाओं में होने लगी। इसलिए यह ब्रजभाषा कहकर पुकारी जाने लगी। विशुद्ध रूप में अब भी यह बोली मथुरा, आगरा, अलीगढ़, धौलपुर में बोली जाती है। गुड़गाँवा, भरतपुर, करौली तथा ग्वालियर के पश्चिमोत्तर भाग में इसमें राजस्थानी और बुंदेली की झलक आती है। जब से गोकुल वल्लभ सम्प्रदाय का केन्द्र हुआ तब से ब्रजभाषा में कृष्ण साहित्य लिखा जाने लगा। धीरे-धीरे यह बोली समस्त हिन्दी प्रदेश की साहित्यिक भाषा हो गई। १६ वीं शताब्दी में साहित्य के क्षेत्र में खड़ी बोली ब्रजभाषा की स्थानापन्न हुई।

कन्नौजी—इस बोली का क्षेत्र अवधी और ब्रजभाषा के बीच में है। वास्तव में यह ब्रजभाषा का ही एक उपरूप है। कन्नौजी का

केन्द्र फर्रुखाबाद है। कन्नौजी बोलने वालों की संख्या बहुत है। ब्रज-भाषा के क्षेत्र में रहने के कारण कन्नौजी साहित्य के क्षेत्र में कभी आगे नहीं आ सकी।

बुन्देली—बुन्देली बुन्देलखंड की बोली है। शुद्ध रूप से झाँसी हमीरपुर, ग्वालियर, भूपाल, ओड़छा, नृसिंहपुर और हुशंगाबाद में बोली जाती है। मध्यकाल में बुंदेली साहित्य का प्रसिद्ध केन्द्र रहा है। किन्तु यहाँ होने वाले कवियों ने भी ब्रजभाषा में ही कविता की है। यद्यपि इनकी भाषा पर बुंदेली बोली का प्रभाव अधिक पाया जाता है। बुंदेली और ब्रजभाषा में बड़ा साम्य है। ब्रज, कन्नौजी और बुन्देली एक ही बोली के तीन प्रादेशिक रूप हैं।

अवधी—हरदोई जिले को छोड़कर शेष अवध की बोली अवधी ही है। यह लखनऊ, उन्नाव, रायबरेली, सीतापुर, फैजाबाद तथा बाराबंकी आदि में ही बोली जाती है। किन्तु इन जिलों के अतिरिक्त इलाहाबाद, मिर्जापुर, कानपुर, आदि में भी बोली जाती है। बिहार के मुसलमान भी अवधी बोलते हैं। इस मिश्रित अवधी का विस्तार मुजफ्फ़रपुर तक है। ब्रजभाषा के साथ-साथ अवधी में भी साहित्य लिखा गया परन्तु यह उसकी प्रतिद्वन्द्विता में ठहर न सकी।

बघेली—अवधी के दक्षिण में बघेली का क्षेत्र है। इसका केन्द्र रींवा राज्य है। किन्तु यह मध्यप्रान्त के दमोह, जबलपुर, माँडला, तथा बालाघाट के जिलों तक फैली हुई है। जिस प्रकार बुन्देलखण्ड के लोग ब्रजभाषा में लिखते हैं, वैसे ही रींवा के दरबार में बघेली के स्थान पर अवधी को आदर मिला है।

छत्तीसगढ़ी—इसको लरिया या खल्ताही भी कहते हैं। यह मध्य-प्रान्त में रायपुर और बिलासपुर के जिलों तक तथा काँकेर, नन्दगाँव, रायगढ़, कोरिया, सरगुजा, उदयपुर आदि राज्यों में भिन्न-भिन्न रूपों में बोली जाती है। छत्तीसगढ़ी बोली बोलने वालों की संख्या लगभग ३३

लाख है। छत्तीसगढ़ी का पुराना साहित्य बिल्कुल नहीं है। कुछ नई किताबें अवश्य छपी हैं।

भोजपुरी—यह प्राचीन काशी जनपद की बोली है। भोजपुरी बनारस, मिर्जापुर, जौनपुर, गाजीपुर, गोरखपुर, आजमगढ़, शाहाबाद तक फैली हुई है। भोजपुरी में साहित्य कुछ भी नहीं है। संस्कृत का केन्द्र होने के कारण काशी हिन्दी का भी केन्द्र रहा है। काशी में रहते हुए भी कवि व्रज, अवधी और खड़ी बोली में कविता करते रहे। भाषा-सम्बन्धी कुछ साम्यों को छोड़कर शेष सब बातों में भोजपुरी प्रदेश बिहार की अपेक्षा हिन्दी के अधिक निकट है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि संयुक्तप्रान्त की चार बोलियाँ हैं—खड़ी बोली, व्रजभाषा, अवधी और भोजपुरी। हिन्दी का विस्तार पश्चिम में राजस्थान, पूर्व में बिहार तक है। अतः राजस्थानी और बिहारी हिन्दी की उपभाषा हो सकती हैं। इन भाषाओं की बोलियों को भी एक प्रकार से हिन्दी के अन्तर्गत माना जा सकता है।

प्रश्न ३१—स्वराघात और उसका विकास स्पष्ट कीजिए।

स्वराघात कविता आदि में होने वाले आरोह और अवरोह को कहते हैं। गीतों में भी प्रायः कई बार सुर ऊपर को ध्वनि खींचता है और कई बार नीचे को। इस सुर के ऊँचे नीचे होने को स्वराघात कहते हैं। स्वराघात दो प्रकार का होता है। एक स्वराघात वह है जिसमें आवाज का सुर ऊँचा या नीचा किया जाता है। इसको गीतात्मक स्वराघात कहते हैं। यह स्वराघात उसी प्रकार का है जैसा हम गाने आदि में पाते हैं। दूसरे ढंग का स्वराघात वह है जिसमें आवाज ऊँची नीची नहीं की जाती है परन्तु ध्वनि को [illegible] के साथ छोड़कर जोर दिया जाता है। इसे बलात्मक स्वराघात कहते हैं। इसका सम्बन्ध नाद तन्त्रियों से न होकर फेफड़े से हवा फेंकने के ढंग पर होता है। कई बार एक ही ध्वनि में [illegible], बलात्मक स्वराघात तथा गीतात्मक स्वराघात आ जाता है

तब भेद करना कठिन हो जाता है कि यह कौन सा स्वराघात है और किस कारण से यह हुआ है।

भारतीय आर्य भाषाओं में स्वराघात मिलता है। वैदिक भाषा में स्वराघात की विशेषता है। स्वराघात की दृष्टि से प्राचीन भारतीय आर्य भाषाएँ गीतात्मक स्वराघात-प्रधान भाषाएँ हैं। वैदिक साहित्य में वेद-ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में लिखे हुए शब्दों के ऊपर और नीचे जो चिह्न रहते हैं वे इसी स्वराघात के सूचक हैं। गीतात्मक स्वराघात के तीन भेद हैं उन्हें पारिभाषिक शब्दों में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के नाम से पुकारा जाता है।

वैदिक साहित्य में गीतात्मक स्वराघात को प्रकट करने के चार ढंग हैं। सामवेद को छोड़कर ऋग्वेदादि अन्य तीनों वेदों की प्रचलित संहिताओं में उदात्त स्वर पर कोई चिह्न नहीं लगाया जाता। यही कारण है कि प्रातिशाख्यों में स्वरित का पूर्व भाग उदात्त से भी ऊँचा बोला जाता है। अतः सुर की दृष्टि से उदात्त और स्वरित में स्थान परिवर्तन हो गया था। स्वरित स्वर के ऊपर खड़ी लकीर होती है और अनुदात्त स्वर के नीचे टेढ़ी लकीर होती है। जैसे अग्निना शब्द में अ अनुदात्त है, अग्नि उदात्त है और ना स्वरित है। यदि पाद के आरम्भ में उदात्त आता है तो उसको चिह्न रहित छोड़ दिया जाता है और प्रत्येक अनुदात्त रहता है। किन्तु स्वरित के बाद आने वाले अनुदात्तों में केवल अन्तिम अनुदात्त को चिह्नित किया जाता है। एक उदाहरण से सब स्पष्ट हो जाता है जैसे—'इम में' इसमें म् उदात्त स्वर है। 'गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि' में समस्त स्वर अनुदात्त हैं। शु उदात्त और द्रि अनुदात्त है। ऋग्वेद की मैत्रायणी और काठक संहिताओं में स्वरित स्वर के ऊपर खड़ी लकीर न होकर उदात्त स्वर के ऊपर खड़ी लकीर की जाती है। जैसे इन संहिताओं में अग्निना में ग्नि उदात्त और ना स्वरित है। अनुदात्त का चिह्न ऋग्वेदादि संहिताओं के समान ही है। किन्तु स्वरित का चिह्न दोनों संहिताओं में कुछ भिन्न ढंग से लगाया जाता है। सामवेद

था। इसलिए बाद के कालों के स्वराघात की स्थिति के सम्बन्ध में कोई भी मत विशेषतया अनुमान के आधार पर बनाया जा सकता है।

वैदिक भाषा के समान हिन्दी में गीतात्मक स्वराघात शब्दों में नहीं पाया जाता। वाक्यों में इसका थोड़ा-बहुत प्रयोग अवश्य होता है।

हिन्दी शब्दों में बलात्मक स्वराघात अवश्य पाया जाता है। किन्तु वह अंग्रेजी के इस प्रकार के स्वराघात के सदृश प्रत्येक शब्द में निश्चित् नहीं है। इसके अतिरिक्त हिन्दी में प्रायः दीर्घ स्वर पर स्वराघात होने के कारण दोनों में भेद करना साधारणतः कठिन हो जाता है। आधुनिक हिन्दी शब्दों में स्वरलोप तथा ह्रस्व और दीर्घ स्वरों का भेद दिखलाना बहुत आवश्यक है। स्वराघात का भेद उतना स्पष्ट नहीं है।

हिन्दी स्वराघात के सम्बन्ध में कुछ नियम हैं जिनमें उपांत्य स्वर पर स्वराघात पाया जाता है।

यदि शब्द या शब्दांश के अन्त में रहने वाले अ का लोप होकर शब्द या शब्दांश उच्चारण की दृष्टि से व्यञ्जनांत हो जाता है तो उपांत्य स्वर पर ज़ोर पड़ता है जैसे सेब, आदमी, कमल।

संयुक्त व्यञ्जन के पूर्ववर्त्ती स्वर पर जोर पड़ता है जैसे चन्दा, लज्जा, विद्या।

विसर्ग युक्त स्वर का उच्चारण कुछ जोर से होता है जैसे प्रायः अन्तकरण।

प्रेरणार्थक धातुओं में आ पर स्वराघात होता है जैसे कराना, बुलाना, चुराना।

यदि शब्द के एक ही रूप के कई अर्थ निकलते हैं तो इन अर्थों का अन्तर केवल स्वराघात से जाना जाता है जैसे की सम्बन्ध कारक चिह्न और की (क्रिया) में दूसरी की का उच्चारण अधिक ज़ोर देकर किया ज़ाता है।

हिन्दी के कुछ मात्रिक और वर्णिक छन्दों का मूलाधार स्वरों की सख्या या मात्राकाल न होकर वास्तव में बलात्मक स्वराघात ही है।

यदि स्वरों के मात्राकाल के अनुसार ये मात्रिक और वर्णिक छन्द चलते होते तो ह्रस्व स्वर सदा एक मात्रा का तथा दीर्घ स्वर सदा दो मात्रा-काल का माना जाता, किन्तु हिन्दी के इन छन्दों में बराबर ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें स्वरों की मात्राओं में उच्चारण की दृष्टि से परिवर्तन कर लिया जाता है।

उदाहरण के लिए सवैया छन्दों में गणों का क्रम तथा वर्ण संख्या बंधी हुई है। प्रत्येक पद की वर्ण संख्या में तो कोई गड़बड़ नहीं होती किन्तु गणों के अन्दर वास्तव में स्वर की ह्रस्व दीर्घ मात्राओं का ध्यान नहीं रखा जाता। उदाहरणार्थ—

"अवधेस के द्वारे सकारे गई सुत गोद कै भूपति लै निकसे"

इस पाद में 'रे' 'रे' 'के' मात्रा के हिसाब से तो दीर्घ हैं परन्तु छन्द की दृष्टि से ह्रस्व मानना पड़ता है। वास्तव में इन सवैयों के अन्दर संस्कृत के समान गण का क्रम न होकर प्रत्येक दो वर्ण के बाद बलात्मक स्वराघात है। स्वराघात की दृष्टि से यह पंक्ति यों लिखी जा सकती है—अवधैस के द्वारे सकारे गई सुत गोंद के भूंपति लैं निकसें। इस कारण जिन वर्णों पर बलात्मक स्वराघात नहीं है वे चाहे ह्रस्व हों या दीर्घ किन्तु वे स्वराघात हीन होने के कारण ह्रस्व के निकट हो जाते हैं। स्वराघात वाले स्वर अवश्य दीर्घ होने चाहिएँ।

कवित्त या घनाक्षरी छन्द में भी वर्णों की निर्धारित संख्या के अतिरिक्त पद के अन्दर बलात्मक स्वराघात का क्रम रहता है।

अवधी में भी बलात्मक स्वराघात पाया जाता है। एकाक्षरी शब्दों में स्वराघात केवल तब पाया जाता है जब उनका व्यवहार वाक्य में हो। दो अक्षर, तीन अक्षर तथा अधिक अक्षर वाले शब्दों में अन्त के दो अक्षरों में से उस पर स्वराघात होता है, जो दीर्घ हो या स्थान के कारण दीर्घ माना जाय, यदि दोनों दीर्घ या ह्रस्व हों तो स्वराघात अक्षर पर होता है। जैसे—

पिसान्, पचीस, बांइस, झापेड, अढाई आदि।

इस प्रकार स्वराघात संस्कृत प्राकृत हिन्दी अवधी आदि में रहा।

प्रश्न ३२—हिन्दी ध्वनियों का विकास-क्रम बतलाइए।

हिन्दी ध्वनि समूह पर विचार करने से पूर्व आर्य भाषाओं की ध्वनि-समूह पर विचार करना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। क्योंकि हिन्दी ध्वनि समूह की मूलाधार ध्वनियाँ प्राचीन ध्वनि समूह ही हैं।

प्राचीनतम ध्वनियों का रूप वैदिक ध्वनियाँ हैं। वैदिक भाषा में मूल ध्वनियाँ ५२ हैं इनमें १३ स्वर तथा ३९ व्यञ्जन हैं।

नौ मूल स्वर इस प्रकार हैं—

अ आ, इ ई, उ ऊ, ऋ ॠ, ऌ।

इन्हीं में चार संयुक्त स्वर हैं।

ए (अ+इ) ओ (अ+उ) ऐ (आ+इ) औ (आ+उ)

व्यञ्जनों में पच्चीस स्पर्श व्यञ्जन जो उच्चारण स्थान भेद से पाँच वर्गों में बाँटे गये हैं।

कंठ्य—क् ख् घ् ङ।

तालव्य—च् छ् ज् झ् ञ्।

मूर्द्धन्य—ट् ठ् ड् ढ् ण्।

दन्त्य—त् थ् द् ध् न्।

ओष्ठ्य—प् फ् ब् भ् म्।

छः अन्तस्थ—इ् (य्) र् ल् व् ऌ ह् ड॑ (व्)

छः अघोष उष्म—श् ष् स्।

विसर्जन या विसर्ग :

जिह्वामूलीय ×

उपध्वनीय ×

अनुस्वर ×

सघोष उष्म ह

यह आवश्यक नहीं है कि वैदिक ध्वनियों का जैसा उच्चारण आज-कल होता है वैसा ही प्राचीन काल में होता होगा। उसमें समय ने

अनेक प्रकार के परिवर्तन कर दिये हैं। बहुत सी ध्वनियाँ तो लुप्त तक हो गई हैं। प्राचीन शिक्षा ग्रन्थ प्रातिशाख्य तथा अन्य ऐतिहासिक प्रमाणों और ध्वनिशास्त्र के सिद्धान्तों के आधार मूल ध्वनियों की उच्चारण सम्बन्धी विशेषताएँ हैं—जैसे ऋक्प्रातिशाख्या में ऋ का उच्चारण वर्त्स्य माना गया है, साथ ही इसे मूर्द्धन्य स्वर भी कहा है। बाद में ऋ का उच्चारण जीभ को दो बार वर्त्स में छुआकर होने लगा। ऋ के उच्चारण के सम्बन्ध में काफी मतभेद रहा है।

लृ का प्रयोग बहुत ही कम मिलता है। वैदिक धातुओं में केवल क्लृप् में यह स्वर पाया जाता है। चटर्जी के मतानुसार लृ का उच्चारण अंग्रेजी के Little के अनुसार है।

भारतीय आर्य भाषा-काल के पूर्व ए ओ संधि स्वर थे। संस्कृत काल में इनका उच्चारण दीर्घ मूल स्वरों के समान ही हो गया था। वैदिक काल तक आते आते ही आइ आउ का पूर्व स्वर ह्रस्व हो गया था। अब इन संयुक्त स्वरों का रूप अइ अउ संस्कृत में है।

वैदिक काल में चवर्गीय ध्वनियें आजकल की तरह स्पर्श संघर्षी न होकर केवल मात्र स्पर्श थीं।

अनुस्वर वास्तव में स्वर के बाद आने वाली शुद्ध नासिक्य ध्वनि थी। किन्तु कुछ प्रातिशाख्यों से पता चलता है कि अनुस्वर तभी अनुनासिक स्वर में परिवर्तित होने लगा था।

क के पहले आने वाले विसर्ग का रूपान्तर जिह्वामूलीय कहलाता था। इसी प्रकार प् के पहले आने वाले विसर्ग का रूपान्तर उपध्यानीय कहलाता था।

आधुनिक ध्वनिशास्त्र के अनुसार वैदिक ध्वनियों का वर्गीकरण इस प्रकार है।

संवृत—अग्र इ ई पश्च उ ऊ

अर्द्धसंवृत—अग्र ए पश्च ओ

निवृत्त—पश्च अ आ

संयुक्त स्वर—ए्श्च अइ अउ

विशेष स्वर—ऋ ॠ लृ

शुद्ध अनुस्वर ✕

व्यंजनों का वर्गीकरण

	द्व्योष्ठ्य	वत्सर्य	मूर्द्धन्य	तालव्य	कंण्ठ्य	स्वरयंत्र मुखी
स्पर्श अल्पप्राण	प् ब्	त् द्	ट् ड्	च् ज्	क् ग्	
स्पर्श महाप्राण	फ् भ्	थ् ध्	ठ् ढ्	छ् झ्	ख् घ्	
अनुनासिक	भ्	न्	ण्	ञ्	ङ्	
पार्श्विक अल्पप्राण		ल्	ळ्			
पार्श्विक महाप्राण			ळ्ह्			
उत्क्षिप्त		र्				
संघर्षी	(उप०)	स्	ष्	श्	जिह्वा	: ह
अर्द्धस्वर	उँ (व)			ई(य)		

पाली तथा प्राकृत ध्वनि समूह

पाली में दस स्वर माने गये हैं।

अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ ओ ओ।

ऋ ॠ लृ ऐ औ का प्रयोग पाली में नहीं होता ऋ ध्वनि अ इ उ आदि किसी अन्य स्वर में परिवर्तित हो जाती है। लृ का प्रयोग संस्कृत में नहीं के बराबर हो गया था। ऐ औ के स्थान में ए ओ क्रम से हो जाते हैं। पाली में दो नये स्वर ए, ओ ह्रस्व ए ओ पहले पहल मिलते हैं।

व्यञ्जनों में पाली में श् ष् नहीं पाये जाते। श् ष् के स्थान पर भी स् का ही व्यवहार मिलता है।

पाली में विसर्ग का प्रयोग नहीं पाया जाता। पद के अन्त में आने वाला विसर्ग पूर्ववर्ती 'अ' से मिलकर ओ में परिवर्तित हो जाता है। अन्यत्र उसका लोप हो जाता है।

शेष ध्वनि पाली में संस्कृत के समान ही हैं।

प्राकृत भाषाओं में और पाली के ध्वनिसमूह में विशेष कोई भेद नहीं है। मागधी को छोड़कर अन्य प्राकृतों में ष् और श् का व्यवहार प्रचलित नहीं है। मागधी में स् के स्थान पर भी श् ही मिलता है। ष् और विसर्ग का प्रयोग प्राकृत में भी नहीं होता। अशोक के लेखों में पश्चिमोत्तरी प्राकृत में ष् अवश्य मिलता है।

हिन्दी ध्वनि समूह

आधुनिक साहित्यिक हिन्दी में अधिकांश ध्वनियाँ तो परम्परागत भारतीय आर्य भाषा के ध्वनि समूह से आई हैं। कुछ ध्वनियाँ आधुनिक काल में विकसित हुई हैं। कुछ ध्वनियाँ फारसी, अरबी तथा अंग्रेजी के सम्पर्क से भी आ गई हैं।

प्राचीन ध्वनियाँ—अ आ इ ई उ ऊ ए ओ

क् ख् ग् घ् ङ्
च् छ् ज् झ्
ट् ठ् ड् ढ् ण्
त् थ् द् ध् न्
प् फ् ब् भ् म्
य् र् ल् व्
श् स् ह्

कुछ नई विकसित ध्वनियाँ—

अ (ऐ) अ ओ (औ) ड़् ढ़् व् न्ह् म्ह्।

अरबी फारसी के तत्सम शब्दों में प्रयुक्त ध्वनियाँ

क़् ख़् ग़् ज़् फ़्

अंग्रेजी तत्सम शब्दों में प्रयुक्त ध्वनियाँ ऑ अरबी फ़ारसी तथा अंग्रेजी तत्सम शब्दों में प्रयुक्त विशेष ध्वनियाँ नगरों में शिक्षित वर्ग ही बोलता है।

ऋ ष् ञ् वर्ण संस्कृत तत्सम शब्दों में लिखे तो जाते हैं किन्तु हिन्दी भाषा भाषी इनके मूल रूप का उच्चारण नहीं करते। संस्कृत ऋ तत्सम

शब्दों में भी रि हो गई है। जैसे ऋण, कृपा, प्रकृति आदि का वास्तविक उच्चारण हिन्दी में रिण, क्रिपा, प्रक्रिति ही होता है। ष् का उच्चारण हिन्दी में श् के समान होता है। उच्चारण की दृष्टि से पोषक कष्ट और कृषक आदि पोशक, कश्ट और क्रिशक हो गये हैं। ञ् संस्कृत शब्दों में भी स्वतन्त्र रूप से नहीं आता है। शब्द के मध्य में आने वाले ञ् का का उच्चारण साहित्यिक हिन्दी में न् के समान होता है। चंचल, मञ्जन और काञ्चन आदि वास्तव में चन्चल, मन्जन और कान्चन बोले जाते हैं। ण् का उच्चारण भी हिन्दी में न् के समान होता है। जैसे पण्डित, ठण्डा, ताण्डव जो उच्चारण में पन्डित, ठन्डा और तान्डव हो जाते हैं। तत्सम शब्दों में प्रयुक्त सस्वर ण् का प्रयोग हिन्दी में होता है, जैसे गणना, गणेश, कण इत्यादि। इनका शुद्ध उच्चारण पश्चिमी क्षेत्र में ही मिलता है। पूर्वीय में वास्तव में यह ड़ँ के समान बोला जाता है।

आधुनिक साहित्यिक हिन्दी तथा बोलियों में व्यवहृत समस्त ध्वनियाँ आधुनिक शास्त्रीय वर्गीकरण के अनुसार इस प्रकार हैं।

मूलस्वर—अ आ ओ (ऑ) (ओं) (ओ़) ओ उ (उ) ऊ ई इ (इ०) ए (ए) (ए्) (ऐ) (ए) (अे)।

मूलस्वरों के अनुनासिक तथा संयुक्त रूप भी पाए जाते हैं।

स्पर्श—क् ख् ग् घ्, ट् ठ् ड् ढ्, त् थ् द् ध्, प् फ् ब् भ्

स्पर्श संघर्षी—च् छ् ज् झ्

अनुनासिक—ङ् (ञ्) ण् न् न्ह् म् म्ह्

पार्श्विक—ल् (ल्ह्)

लुँठित—र् (र्ह्)

उत्क्षिप्त—ड़् ढ़्

संघर्षी—ह् ख़् ग़् श् स् च् फ़् व्

अर्द्धस्वर—य् व्

हिन्दी ध्वनि समूह प्राचीन वैदिक ध्वनि समूह से किस प्रकार परिवर्तित हुआ है। इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जायेगा।

संस्कृत की अ, आ, इ, ई, उ, ऋ ध्वनियाँ हिन्दी शब्दों में अ के रूप में मिलती हैं जैसे सं० प्रहर हि० पहर, सं० आश्चर्य हि० अचरज, सं० वारिद हिन्दी बादल, सं० गर्भिणी हि० गाभिन।

इसी प्रकार अन्य स्वरों का भी इतिहास है। स्वरों के समान ही व्यंजनों में भी परिवर्तन दिखाई देता है। सं० की क् क्क क्य् क्र् क्व ङ् क् र्क् स्क् ध्वनियाँ हिन्दी में 'क' ध्वनि के रूप में हैं। जैसे कर्पूर हि० कपूर, सं० चिक्कण हि० चिकना, सं० माणिक्य हि० माणिक, सं० क्रोश हि० कोश, सं० पक्व हि० पका, सं० अङ्क हि० आंक, सं० शार्करा हि० शकर, सं० स्कंध हिन्दी कंधा।

वैदिक ध्वनि समूह के अतिरिक्त विदेशी ध्वनियाँ भी हिन्दी में आई हैं। निम्नलिखित उदाहरणों से यह पता चलता है कि फारसी की इ ई उ ऊ ए ओ ध्वनियाँ फारसी और हिन्दी में समान हैं।

जैसे हि० इनाम फारसी इनाम्। हि० ईमान फारसी ईमान् हि० फुरसत फारसी फ़ुर्सत आदि।

भारत में अंग्रेजी राज्य के साथ-साथ अंग्रेजी ध्वनियाँ भी आईं। इस प्रकार उनका मिश्रण भी हिन्दी में हुआ, अंग्रेजी में परिवर्तित हिन्दी ध्वनियों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं, जैसे अ० Earing हिन्दी में एरन् हो जाता है। अ० time से हिन्दी में टैम, टाइम, टेम हो जाता है।

इस प्रकार हिन्दी ध्वनि समूह के विकास का इतिहास वास्तव में वैदिक ध्वनि-समूह के विकास का इतिहास है। कुछ ध्वनियाँ फारसी, अरबी और अंग्रेजी से भी आई हैं

प्रश्न ३३—संज्ञा में ध्वनि-परिवर्तन को उदाहरण सहित समझाइए।

हिन्दी में कारक-चिह्न लगाकर विभक्तियों की रचना होती है। हिन्दी भाषा में कारकों की संख्या उतनी है जितनी संस्कृत में। संस्कृत में आठ विभक्तियाँ और प्रत्येक विभक्ति में तीन वचनों के रूपों को मिलाकर प्रत्येक संज्ञा में चौबीस रूपान्तर हो जाते हैं। भिन्न-भिन्न अन्त वाली संज्ञाओं के पृथक्-पृथक् रूप मिलते हैं। लिंग भेद से भी रूपों में भेदत्व

का लक्षरण पाया जाता है। परन्तु हिन्दी में द्विवचन नहीं होता। भिन्न-भिन्न कारकों के एक वचन तथा वहुवचन में भी संज्ञा में चार से अधिक रूप उपलव्ध नहीं होते। प्रथमा वहुवचन तथा समस्त अन्य कारकों के एकवचन तथा वहुवचन के रूपों में अन्त वचन तथा लिंगभेद के अनुसार भेद पाये जाते हैं इन्हीं रूपों में भिन्न-भिन्न कारक चिह्न लगाकर, तथा कुछ प्रयोगों में विना प्रयुक्त भिन्न-भिन्न विभक्तियों के रूप वना लिए जाते हैं। उदाहरणार्थ 'राम' शव्द के संस्कृत तथा हिन्दी के रूप इस प्रकार हैं—

संस्कृत के रूप—

	एकवचन	द्विवचन	वहुवचन
कर्ता	रामः	रामौ	रामाः
कर्म	रामम्	रामौ	रामान्
करण	रामेण	रामाभ्याम्	रामैः
सम्प्रदान	रामाय	रामाभ्याम्	रामेभ्यः
अपादान	रामात्	,,	,,
सम्वन्ध	रामस्य	रामायोः	रामाणाम्
अधिकरण	रामे	,,	रामेषु
सम्वोधन	(हे) राम	रामौ	रामाः

हिन्दी में—	एकवचन	वहुवचन
कर्ता	राम	राम
कर्म	,, को	रामों को
करण	,, से	,, से
सम्प्रदान	,, को	,, को
अपादान	,, से	,, से
सम्वन्ध	,, का, के, की	,, का, के, की।
अधिकरण	में	,, भेंट
सम्बोधन	(हे) राम	(हे) राम

इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी के रूपों का सम्बन्ध संस्कृत के रूपों से बिल्कुल नहीं है, व्रजभाषा आदि हिन्दी की बोलियों में कुछ संयोगात्मक रूप अवश्य पाये जाते हैं, जैसे कर्म में व्रजभाषा में हिन्दी के 'घर को' का रूप 'घरै' मिलता है। किन्तु खड़ी बोली हिन्दी में ऐसे रूपों का व्यवहार नहीं पाया जाता।

हिन्दी संज्ञा के मूलरूपों में कारक चिह्न लगाने के पूर्व जो परिवर्तन किया जाता है वे संज्ञा के विकृत रूप बनते हैं। हिन्दी में संज्ञा के चार रूपों—दो मूल और दो विकृत के उदाहरण भी प्रत्येक संज्ञा में भिन्न नहीं पाये जाते। भिन्न-भिन्न अन्त वाली संज्ञाओं में मिलकर ये चारों रूप अवश्य मिल जाते हैं। उदाहरणार्थ—

	एक वचन	बहुवचन
मूलरूप	(कर्ता) घोड़ा	घोड़े
विकृतरूप	(अन्य कारक) घोड़े	घोड़ों
मूल रूप	(कर्ता) लड़की	लड़कीं, लड़कियाँ
विकृतरूप	(अन्य कारक) लड़की	लड़कियों इत्यादि।

कुछ आकारान्त एक वचन शब्दों में भी कर्ता को छोड़ कर अन्य कारकों में एकारान्त विकृत रूप पाया जाता है। यथा, कर्ता एक वचन का रूप 'घोड़ा' अन्य कारक में एकारान्त होकर एक वचन में 'घोड़े' हो गया है। इस विकृत रूप की व्युत्पति के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों का एक मत है कि यह रूप संस्कृत एक वचन की भिन्न-भिन्न विभक्तियों के रूपों का अवशेष मात्र माना गया है।

हिन्दी संज्ञाओं के मूल तथा विकृत रूपों में ईकारान्त तथा ऊकारान्त शब्दों में ओ लगाने के पूर्व ईकार तथा ऊकार के स्थान में इकार तथा उकार हो जाता है। स्त्रीलिंग के अन्य रूपों में इकारान्त अथवा ईकारान्त तथा ऊकारान्त संज्ञाओं के मूल रूप बहुवचन में इआँ, इएँ तथा उएँ रूप भी होते हैं। संज्ञा के मूल तथा विकृत रूपों में समस्त सम्भावित परिवर्तन इस प्रकार है—

	पुल्लिग		स्त्रीलिंग	
	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	वहुवचन
	अकारान्त कुछ			
मूल रूप	आ	ए	×	एं
विकृत रूप	ए	ओं	×	ओं
	अन्य			
मूल रूप	×	×	×	एं, आं
विकृत रूप	×	ओं	×	आं

समस्त प्रकृति में जड़ और चेतन दो प्रकार के पदार्थ होते हैं। चेतन पदार्थों में स्त्री और पुरुष की भावना से भेद पाया जाता है। इस प्रकार प्रकृति में लिंग भेद की दृष्टि से चेतन पदार्थों के तीन भेद किये गए हैं—(१) पुरुष, (२) स्त्री, तथा (३) लिंग की भावना के विना चेतन पदार्थ। व्याकरण में स्वाभाविक रीति से आरम्भिक काल से ही इनके लिये क्रम से (१) पुल्लिग, (२) स्त्रीलिंग और (३) नपुंसकलिंग शब्दों का प्रयोग होता आया है। अचेतन पदार्थों को प्रायः नपुंसकलिंग के अन्तर्गत रखा गया है। इस क्रम से साम्य रखता हुआ लिंग भेद संस्कृत और अंग्रेजी में तथा मराठी गुजराती आदि के कुछ रूपों में पाया जाता है। प्राकृतिक लिंग भेद तो समस्त भाषाओं में समान रूप से वर्तमान है किन्तु व्याकरणिक दृष्टि से लिंगों की संख्या तथा मात्रा भिन्न-भिन्न भाषाओं में पृथक-पृथक रूप में मिलती है। उदाहरणार्थ संस्कृत में विशेषण, कृदन्त तथा अन्य पुरुषवाची सर्वनाम के रूप पुल्लिग, स्त्रीलिंग तथा नपुंसकलिंग में भिन्न होते हैं। अंग्रेजी में केवल अन्य पुरुष सर्वनाम के रूपों में भेद किया जाता है। भारतीय आर्य भाषाओं में भी लिंगों की संख्या के सम्बन्ध में कई भेद मिलते हैं। प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओं में संस्कृत और प्राकृत में तथा आधुनिक भाषाओं में मराठी, गुजराती और सिंहली में तीन लिंग होते हैं। हिन्दी, पंजाबी, राजस्थानी तथा सिन्धी

में दो लिंग होते हैं। बंगाली, उड़िया, आसामी तथा विहारी में व्याकरण सम्बन्धी लिंग भेद बहुत ही कम किया जाता है। भारत की पूर्वी भाषाओं में लिंग भेद का प्रायः अभाव है। चैटर्जी के अनुसार तो कोल भाषाओं के प्रभाव के कारण बंगाली आदि पूर्वी भाषाओं से लिंग भेद की भावना लुप्त-सी हो गई है। सम्भवतः इन भाषाओं में लिंग भेद की शिथिलता का कारण इनका (भाषाओं का) स्वाभाविक विकास ही हो। द्राविड़ भाषाओं में भी लिंगों की संख्या तीन है।

हिन्दी में व्याकरण सम्बन्धी लिंग भेद सबसे अधिक कठिन है। हिन्दी की प्रधान विशेषता यह है कि उसमें केवल दो लिंग होते हैं। नपुंसकलिंग का प्राय: अभाव ही होता है। प्राय: प्रत्येक अचेतन पदार्थ को स्त्रीलिंग अथवा पुल्लिग के अन्तर्गत रखा जाता है और तत्सम्बन्धी समस्त रूप परिवर्तन इन शब्दों में भी किये जाते हैं। इसी कारण विभिन्न भाषा-भाषियों को हिन्दी में शुद्ध लिंग का प्रयोग करने में कुछ कठिनाई-सी प्रतीत होती है।

हिन्दी में लिंग सम्बन्धी दूसरी विशेषता यह है कि इसकी क्रियाओं में भी लिंग के कारण परिवर्तन हो जाता है। लिंग-भेद के कारण प्रत्येक हिन्दी क्रिया के भी दो रूप होते हैं—पुल्लिग तथा स्त्रीलिंग। यथा-आदमी जाता है, पक्षी उड़ता है, किन्तु स्त्री जाती है और रेल चलती है। भारत की पूर्वी भाषाओं में क्रिया में लिंग भेद न होने के कारण बंगाली, बिहारी तथा संयुक्तप्रान्त की गोरखपुर और बनारस कमिश्नरी तक के लोग हिन्दी बोलते समय अशुद्ध लिंग का प्रयोग कर जाते हैं। यथा—"लोमड़ी बोला कि ऐ हाथी तुम कहाँ चली हो।" इस प्रकार की भाषा बंगाली आदि लोगों के मुख से सदैव सुनाई पड़ती है। हिन्दी क्रिया में कृदन्त रूपों का व्यवहार अधिक होता है। यद्यपि संस्कृत क्रिया में लिंग भेद का अभाव है तथापि संस्कृत कृदन्त रूपों में लिंग भेद की स्थिति पाई जाती है। हिन्दी कृदन्तों का सम्बन्ध हिन्दी

कृदन्त रूपों से है। अतः यह लिंग-भेद हिन्दी कृदन्तों में तो आ ही गया है। साथ ही कृदन्त से बनी क्रियाओं तक भी पहुँच गया है।

हिन्दी के आकारान्त विशेषणों मे लिंग भेद के कारण भिन्न रूप होते हैं। अन्य विशेषणों में इस प्रकार का भेद कम ही पाया जाता है। लिंग भेद के कारण हिन्दी विशेषणों में सर्व प्रचलित परिवर्तन इस प्रकार से है—

	पुल्लिग	स्त्रीलिंग
एकवचन	—आ	ई
बहुवचन	—ए	ईं,ई

हिन्दी विशेषणों में 'ई' लगाकर बने हुए स्त्रीलिंग रूपों की व्युत्पत्ति संस्कृत के तद्धित प्रत्यय 'इका' और प्राकृत के 'इआ' से अथवा इसके अभाव से मानी जाती है। हिन्दी सर्वनामों और क्रिया विशेषणों में लिंग भेद के कारण परिवर्तन नहीं होता। मैं, तुम, वह आदि सर्वनाम स्त्री, पुरुष द्योतक संज्ञाओं के लिये समान रूप से प्रयोग में लाये जा सकते हैं।

हिन्दी संज्ञाओं के लिंग-भेद की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में बीम्स का कहना है कि 'तत्सम तथा तद्भव संज्ञाओं में प्रायः वही लिंग हिन्दी में भी माना जाता है, जो संस्कृत में उनका लिंग रहा हो।' संस्कृत नपुंसकलिंग शब्द हिन्दी में प्रायः पुल्लिग हो जाते हैं। बीम्स ने अपने इस नियम के विरोध में अनेक अपवादों को देखकर विस्तृत नियमों का उल्लेख भी किया है। उनका कहना है कि हिन्दी की पुल्लिग आकारान्त संज्ञाओं की व्युत्पत्ति (१) संस्कृत की अन् अन्तवाली संज्ञाओं से जिनके प्रथमा में आकारान्त रूप होते हैं, जैसे 'राजा', (२) संस्कृत की—'तृ' अन्त वाली सँज्ञाओं से जैसे—'कर्ता', 'दात्ता' तथा कुछ विदेशी शब्दों से, जो प्राय फारसी, अरबी या तुर्की से आये हैं जैसे—'दरिया', 'दरोगा' आदि रूपों से हो सकती है।

सामान्यतः ईकारान्त शब्द स्त्रीलिंग होते हैं। परन्तु कुछ शब्द पुल्लिग के रूप में भी पाये जाते हैं।

(१) संस्कृत—इन अन्त वाले शब्द जैसे—

सं० हस्तिन का हिन्दी में हाथी रूप पाया जाता है, और संस्कृत के स्वामिन का हिन्दी में स्वामी रूप मिलता है।

(२) संस्कृत के 'तृ' अन्त वाले पुल्लिग शब्द, जैसे—

संस्कृत का भ्रातृ हिन्दी में भाई और संस्कृत का नप्तृ हिन्दी में 'नाती' के रूप में मिलता है।

(३) संस्कृत के इकारान्त पुल्लिग या नपुंसकलिंग शब्द, जैसे—संस्कृत का दधि, जो कि नपुंसकलिंग है, हिन्दी में दही और संस्कृत का भगिनीपति (पु०) हिन्दी में बहनोई के रूप में मिलता है।

संस्कृत के 'इक' 'इय' और 'इय' के अन्त वाले पुल्लिग या नपुंसकलिंग शब्द, जैसे संस्कृत का पानीय हिन्दी में पानी, संस्कृत का ताम्बूलिक हिन्दी में तमोली और संस्कृत का क्षत्रिय हिन्दी में खत्री मिलता है।

संस्कृत के वे पुल्लिग या नपुंसकलिंग शब्द जिनके उचांत्य में इकार या ईकार हो। अन्तयध्वनि के लोप से ये हिन्दी में ईकारान्त हो जाते हैं जैसे जीव का जी रूप मिलता है।

हिन्दी के कुछ आकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों की व्युत्पत्ति संस्कृत के आकारान्त स्त्रीलिंग शब्द तथा मात्रा आदि और संदिग्ध व्युत्पत्ति वाले शब्द 'डिबिया', 'चिड़िया' आदि से होती है। संस्कृत के ऊकारान्त स्त्रीलिंग शब्द हिन्दी में भी स्त्रीलिंग में ही प्रयुक्त होते हैं। यथा—संस्कृत का वधू हिन्दी में भी बहू के रूप में प्रयुक्त किया जाता है।

जाति और व्यापार से सम्बन्धित शब्द पुल्लिग रूप में परिवर्तित किये जा सकते हैं। पुल्लिग आकारान्त शब्द स्त्रीलिंग में ईकारान्त में परिवर्तित हो जाते हैं। यथा पुल्लिग में 'लड़का' रूप स्त्रीलिंग में लड़की हो जाता है। विशेषणों में प्रायः इसी प्रयत्न का प्रयोग किया जाता है। अनेक इन, इनी या आनी लगाकर पुल्लिग रूपों से स्त्रीलिंग बनाये जाते

हैं। यथा पुल्लिग के 'धोवी' शब्द में 'इन' का सम्वन्ध जोड़कर स्त्रीलिंग में 'धोबिन' शब्द बन जाता है। इसी प्रकार 'हाथी' से 'हाथिन' लुहार से लुहारिन रूप बनते हैं। विदेशी शब्दों तक में आनी का प्रयोग करके स्त्रीलिंग बनाये जाते हैं। जैसे मुगल से मुगलानी और मेहतर से मेहतरानी रूप बनते हैं।

कुछ शब्द ऐसे भी हैं, जिनके लिंग में परिवर्तन हो गया है। संस्कृत में या हिन्दी में उससे भिन्न लिंग में ये शब्द प्रयुक्त होते हैं। संस्कृत में 'देह' और 'बाहु' शब्द पुल्लिग के रूप में व्यवहृत होते हैं परन्तु हिन्दी में यह शब्द 'देह' और 'बाँहु' स्त्रीलिंग के रूप में प्रयोग में लाए जाते हैं। संस्कृत का 'अक्षि' शब्द नपुंसकलिंग के अन्तर्गत आता है परन्तु हिन्दी में 'आँख' के रूप में परिवर्तित होकर स्त्रीलिंग के रूप में प्रयुक्त होता है। 'विष' शब्द संस्कृत में नपुंसकलिंग माना गया है। परन्तु हिन्दी में यही शब्द पुल्लिग के रूप में प्रयोग किया गया है।

हिन्दी में 'वचन' की संख्या भी परिवर्तित रूप से चली आ रही है। प्राचीन भारतीय आर्य भाषा में एकवचन, द्विवचन और बहुवचन तीन भेद माने गए थे, परन्तु मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा काल के आरम्भ में द्विवचन का तो लोप हो गया और फिर आधुनिक भारतीय आर्य भाषा में अब एकवचन और बहुवचन दो ही वचन शेष रह गये थे। हिन्दी में एकवचन से बहुवचन रूपों का निर्माण अत्यन्त सरल ढंग से होता है। पुल्लिग व्यञ्जनान्त तथा कुछ स्वरान्त संज्ञाओं में प्रथम एकवचन तथा बहुवचन के रूप समान होते हैं, जैसे 'घर' शब्द एकवचन तथा बहुवचन में समान रूप से प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार बर्तन, आदमी आदि शब्द भी दोनों पक्षों में समान रूप से लाये जाते हैं।

स्त्रीलिंग आकारान्त तथा व्यञ्जनान्त संज्ञाओं में प्रथमा बहुवचन में 'ए' लगता है जैसे—'रात' एकवचन के रूप में बहुवचन बनाने के लिये 'ए' लगाकर 'रातें' बहुवचन का रूप बन जाता है। इसी प्रकार औरत का औरतें तथा कथा का कथाएँ रूप बनते हैं।

पुंल्लिग आकारान्त शब्दों में प्रथमा वहुवचन में 'आ' के स्थान में 'ए' कर दिया जाता है जैसे—एकवचन के लड़का रूप में 'ए' लगा देने से वहुवचन में लड़के रूप वन जाता है। इसी प्रकार स्त्रीलिंग ईकारान्त शब्दों में प्रथमा वहुवचन में या तो केवल अनुस्वार जोड़ दिया जाता है अथवा ई के स्थान में इयाँ कर दिया जाता है, यथा—एकवचन में 'लड़की' शब्द के साथ 'ई' या इयाँ जोड़ देने से लड़की या लड़कियाँ रूप वहुवचन में वन जाते हैं। इसी प्रकार पोथी का वहुवचन में पोथियाँ रूप वन जाता है। अन्य सभी विभिक्तियों में वहुवचन में समान रूप से—ओं लगता है, जैसे घरों, लड़कों, पोथियों इत्यादि। ईकारान्त शब्दों में 'ई' ह्रस्व हो जाती है, और ओं के स्थान पर 'यों' हो जाता है।

प्रश्न ३४—हिन्दी सर्वनामों की व्युत्पत्ति समझाइए।

हिन्दी में सर्वनामों के आठ भेद माने गये हैं। इसके अतिरिक्त कुछ सर्वनाम विशेषणों की भाँति भी प्रयुक्त होते हैं। हिन्दी सर्वनामों में प्रायः संज्ञाओं के समान ही कारक चिह्न लगते हैं। वे आठ भेद इस प्रकार हैं—पुरुषवाचक, निश्चयवाचक, सम्वन्धवाचक, नित्य-सम्वन्धी, प्रश्नवाचक, अनिश्चयवाचक, निजवाचक, आदरसूचक।

पुरुषवाचक—(मैं, तू)

उत्तम पुरुष—(मैं)

उत्तम पुरुष 'मैं' के निम्न रूप से मुख्य रूपान्तर होते हैं।

	एक०	वहु०
मूल रूप—	मैं	हम
विकृत रूप—	मुझे (मुझे)	हम (हमें)
सम्वन्ध कारक—	मेरा	हमारा

हिन्दी 'मैं' का सम्वन्ध संस्कृत तृतीया के रूप 'मया' से माना जाता है। संस्कृत में मया रूप प्राकृत में मइ, मए अपभ्रंश में 'मइं' और मई तथा हिन्दी में 'मैं' हो जाता है। संस्कृत के 'अहं' से इसका कोई सम्वन्ध नहीं है।

हिन्दी में 'मुझ' का सम्बन्ध षष्ठी कारक के प्राकृत रूप 'मह' के अतिरिक्त एक अन्य रूप मज्झ प्राकृत मह्मं और संस्कृत मह्म से माना जाता है। 'हम' का सम्बन्ध प्राकृत के अम्हे से है जिनके 'म' और 'ह' में स्थान परिवर्तन हो जाता है। इन प्राकृत रूपों की व्युत्पत्ति अस्मे से मानी जाती है। संस्कृत प्रथम पुरुष बहुवचन वयं से हिन्दी 'हम' का सम्बन्ध किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। 'हमें' का सम्वन्ध प्राकृत तथा अपभ्रंश 'अम्हई' से किया जाता है।

ब्रज आदि पुरानी हिन्दी के 'हौं' का सम्बन्ध संस्कृत अहं या अहकं से है। शौरसेनी में इसका रूप अहयं तथा अहअं और अपभ्रंश में हमुं तथा हउं मिलता है। अपभ्रंश हमुं से ब्रज हउं या हौं रूप होना सम्भव है।

'मेरा' 'हमारा' रूप अथवा मध्यम पुरुष के तेर 'तुम्हारा' रूप विशेषण के समान प्रयुक्त होते हैं। अतः साथ में आने वाली संज्ञा के अनुरूप इनके लिंग तथा वचन में भेद होता है। 'र' लगाकर बने हुए षष्ठी के इन सब रूपों का सम्बन्ध कारक करो, केरा, करा आदि प्राकृत प्रत्ययों के प्रभाव से माना जाता है। उदाहरण के लिए प्राकृत में मह केरो या यह करो रूप से हिन्दी में म्हारी, मारो, मेरा आदि समस्त रूप निकल सकते हैं।

सम्बन्ध कारक को छोड़कर अन्य कारकों में ब्रजभाषा में एकवचन म 'मो' विकृत रूप मिलता है। बीम्स के अनुसार इसका सम्बन्ध संस्कृत षष्ठी के 'मम' रूप से है। प्राकृत में षष्ठी में मम, मह, मझ तथा 'मे' रूप मिलते हैं। इनके अतिरिक्त मह रूप भी पाया गया है। अपभ्रंश में यही महुँ हो जाता है। महुँ से मौं तथा मो हो सकना असम्भव नहीं है।

मध्यम पुरुष (तू)

मध्यम पुरुष सर्वनाम के निम्न मुख्य रूपान्तर हो सकते हैं।

मूल रूप—तू तुम

विकृत रूप—तुझ तुम

सम्बन्ध कारक—तेरा तुम्हारा

हिन्दी में तू का सम्बन्ध संस्कृत त्वया प्राकृत में तुअं अपभ्रंश में तुहं हो जाता है।

ब्रज आदि पुरानी हिन्दी का तैं रूप हिन्दी 'मैं' की तरह संस्कृत त्वया प्राकृत तइ तए और अपभ्रंश तइं से सम्बन्ध रखता है।

हिन्दी तुझ का सम्बन्ध प्राकृत के षष्ठी के तुह के रूपान्तर तुज्झ तथा संस्कृत तुभ्यं से माना जाता है। प्राकृत के पूर्व संस्कृत में इस तरह के रूप नहीं मिलते। हिन्दी तुझे में ए विकृत रूप का चिह्न है। ब्रज तो अपभ्रंश तुहं और संस्कृत तुस्स से निकला माना जाता है।

हिन्दी तुम का सम्बन्ध प्राकृत तुम्हें तुम्ह संस्कृत तुष्मे से माना जाता है। हिन्दी तुम्हें का सम्बन्ध प्राकृत अपभ्रंश तुम्हइं से है।

निश्चयवाचक—(यह, वह)

निकटवर्ती—(यह)

संस्कृत के अन्य पुरुप के रूप हिन्दी में इस अर्थ में प्रचलित नहीं हैं। हिन्दी में अन्य पुरुप का काम निश्चयवाचक सर्वनामों से लिया जाता है। हिन्दी में निकटवर्ती निश्चयवाचक सर्वनाम 'यह' के मुख्य रूप इस प्रकार हैं।

मूल रूप—यह, ये।

विकृत रूप—सम्प्रदान इसे, इन (इन्हें)

हिन्दी यह, ये की व्युत्पत्ति संस्कृति एपः एते, एतानि आदि रूपों से स्पष्ट ही है। हार्नली भी इनका सम्वन्ध संस्कृत एपः से जोड़ते हैं। चैटर्जी-निकटवर्ती निश्चयवाचक समस्त रूपों का सम्वन्ध संस्कृत मूल शव्द एत—एपः एपा, एतद से मानते हैं।

हिन्दी में 'इस' स्पष्ट रूप से प्राकृत एअस्स संस्कृत अस्य से संवद्ध मालूम होता है। चैटर्जी इसका सम्वन्ध संकृत एतस्य से जोड़ते हैं। हिन्दी का इन रूप प्राकृत एदिणा, एदणा संस्कृत एतेन से सम्वद्ध नहीं हो सकता। इनके 'न' में संस्कृत सम्वन्ध कारक वहुवचन के चिह्न का प्रभाव मालूम होता है। इसे और इन्हें मूल रूपों के विकृत रूप हैं।

दूरवर्ती (वह) हिन्दी में दूरवर्ती निश्चयवाचक सर्वनाम 'वह' के मुख्य रूपान्तर निम्नलिखित हैं।

मूल रूप—वह वे।

विकृत रूप—उस (उसे) उन (उन्हें)।

संस्कृत तद् (सः, सा, तत्) के रूपों से हिन्दी के 'इस' सर्वनाम का सम्बन्ध नहीं है। चैटर्जी के अनुसार हिन्दी वह संस्कृत के कल्पित रूप 'अव' प्राकृत 'ओ' से सम्बन्ध रखता है। ईरानी में 'अव' और ओ रूप पाये जाते हैं। दरद भाषाओं में भी ये वर्तमान हैं। यदि व्युत्पत्ति ठीक है तो हिन्दी 'उसका' सम्बन्धकारक का सम्बन्ध प्राकृत अउस्स संस्कृत अवस्य से जोड़ा जा सकता है। इसी प्रकार वे और उन के सम्बन्ध में कल्पनाएँ की जा सकती हैं। उसे और उन्हें विकृत रूप माने जा सकते हैं। वास्तव में इस सर्वनाम की व्युत्पत्ति अनिश्चित् है।

सम्बन्धावचक—

हिन्दी सम्बन्धवाचक सर्वनाम के रूपान्तर इस प्रकार हैं।

मूल रूप—जो जो।

विकृत रूप—जिस जिसे, जिन जिन्हें।

हिन्दी जो का सम्बन्ध संस्कृत यः से है।

हिन्दी जिस संस्कृत यस्य प्राकृत जिस्स और अपभ्रंश जस्स से सम्बद्ध है। हिन्दी जिन संस्कृत षष्ठी बहु० यानां से निकला माना जाता है। यद्यपि साहित्यिक संस्कृत में येषाम रूप प्रचलित है। जिसे और जिन्हें इस ढंग के अन्य प्रचलित रूपों के समान ही बने हैं।

नित्यसम्बन्धी

हिन्दी नित्यसम्बन्धी 'सो' का व्यवहार साहित्यिक हिन्दी में कम होता है। इसके स्थान पर प्रायः दूरवर्ती निश्चयवाचक सर्वनाम प्रयुक्त होने लगा है। हिन्दी सो के निम्नलिखित रूपान्तर हो सकते हैं।

मूल रूप— सो एक० सो बहु०

विकृत रूप— तिस (तिसे) तिन (तिन्हें)

व्युत्पत्ति की दृष्टि से हिन्दी सो का सम्बन्ध संस्कृत सः और प्राकृत सो से है। पुरानी हिन्दी तथा बोलियों में सो का प्रयोग अन्य पुरुष के अर्थ में बराबर मिलता है। हिन्दी तिस का सम्बन्ध प्राकृत तस्स और संस्कृत तस्य से है। हिन्दी तिन की उत्पत्ति प्राकृत तेणं संस्कृत तेणां तथा संस्कृत तानां (तेषां) से मानी जाती है।

प्रश्नवाचक (क्या, कौन)—

हिन्दी प्रश्नवाचक सर्वनाम कौन के मुख्य रूपान्तर इस प्रकार हो सकते हैं।

मूल रूप—कौन एक० कौन बहु०
विकृत रूप—किस (किसे) किन (किन्हें)

हिन्दी कौन की व्युत्पत्ति प्राकृत कवन 'कवण' कोऽरण संस्कृत कः पुनः से मानी जाती है। हिन्दी की बोलियों में कौन के स्थान पर 'को' के रूप भी मिलते हैं जिनका सम्बन्ध संस्कृत कः से सीधा है। हिन्दी 'किस' का संबंध प्राकृत कस्स संस्कृत कस्य से स्पष्ट है। हिन्दी किन की उत्पत्ति प्राकृत केणां संस्कृत काणां (केषां) कल्पित रूपों से मानी गई हैं। किसे, किन्हें रूप अन्य प्रचलित रूपों के समान प्रतीत होते हैं।

हिन्दी नपुंसकलिंग 'क्या' की व्युत्पत्ति अनिश्चित है। संस्कृत किं से इसका सम्बन्ध सम्भव नहीं है।

अनिश्चयवाचक (कोई, कुछ)—

हिन्दी अनिश्चयवाचक सर्वनाम 'कोई' के मुख्य रूपान्तर इस प्रकार हैं।

मूल रूप—	कोई एक०	कोई बहु०
विकृत रूप—	किसी	किन्हीं

हिन्दी कोई की व्युत्पत्ति प्राकृत कोवि संस्कृत कोऽपि से मालूम पड़ती है। हिन्दी 'किसी' का सम्बन्ध संस्कृत कस्यापि से हो सकता है। हिन्दी किन्हीं रूप की व्युत्पत्ति अनिश्चित है।

हिन्दी नपुंसकलिंग 'कुछ' का सम्बन्ध संस्कृत कश्चिद रूप से जोड़ा जाता है। प्राकृत से कच्छु सम्भावित रूप माना जाता है।

निजवाचक (आप)—

हिन्दी निजवाचक सर्वनाम आप प्राकृत अप्पा आपा से संस्कृत आत्मन् से निकला है। हिन्दी अपना वास्तव में आपका ही सम्बन्ध कारक रूप है। किन्तु हिन्दी में निजवाचक होकर स्वतन्त्र शब्द हो गया है। इस रूप का सम्बन्ध प्राकृत अप्पाणों अपभ्रंश अप्पाणु जैसे रूपों से माना जाता है। संस्कृत आत्मा से सम्बद्ध प्राकृत अत्ता, अत्ताणों रूप आधुनिक भाषाओं में नहीं आ सके हैं। हिन्दी आपस का सम्बन्ध प्राकृत आपस्स संस्कृत आत्मस्य सम्भावित रूपों से जोड़ा जाता है।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से आदर सूचक आप और निजवाचक आप एक ही शब्द हैं। शिष्ट हिन्दी में मध्यम पुरुष तू तुम के स्थान पर प्रायः सदा ही आप व्यवहृत होता है।

विशेषण के समान प्रयुक्त सर्वनाम के मुख्य रूपान्तर इस प्रकार हैं।

इतना	ऐसा
उतना	वैसा
तितना	तैसा
जितना	जैसा
कितना	कैसा

व्युत्पत्ति की दृष्टि से परिमाणवाचक रूपों का सम्बन्ध संस्कृत इयत् कियत्; प्राकृत एत्तिय केत्तिय आदि से है। ना को बीम्स ने लघुता सूचक अर्थ का द्योतक माना है।

गुणवाचक रूपों का सम्बन्ध संस्कृत यादृश् तादृश् आदि रूपों से जोड़ा जाता है जैसे—संस्कृत की दृश् प्राकृत केरिसा और हिन्दी कैसा।

इस प्रकार सर्वनामों के रूप परिवर्तित होकर हिन्दी में आ गए।

प्रश्न ३५—हिन्दी क्रियाओं की व्युत्पत्ति समझाइए।

एक दो कालों के रूपों को छोड़कर संकृत क्रिया पूर्णतया संयोगात्मक थी। छः प्रयोगों दस कालों तथा तीन पुरुष और तीन वचनों को लेकर प्रत्येक संस्कृत धातु के ५४० (६ × १० × ३ × ३) भिन्न रूप होते हैं। फिर संस्कृत की समस्त धातुओं के रूप समान नहीं बनते। इस दृष्टि से संस्कृत की ३००० धातुएँ दस श्रेणियों में विभक्त हैं, जिन्हें गण कहते हैं। एक गण की धातुओं के रूप दूसरे गण की धातुओं से भिन्न होते हैं। इस तरह संस्कृत क्रिया का ढंग बहुत पेचीदा है।

यह अवस्था बहुत दिन नहीं रह सकती थी। म० भा० आ० काल में आते-आते क्रिया की बनावट सरल होने लगी। यद्यपि मा० भा० आ० में क्रिया संयोगात्मक ही रही किंतु पाली क्रिया में उतने रूप नहीं मिलते जितने संस्कृत में पाये जाते हैं। दस गणों में से पाँच (१, ४, ६, ७, १०) के रूप पाली में इतने मिलते जुलते होने लगे कि इन्हें साधारणतया एक ही गण माना जा सकता है। शेष गणों के रूपों पर भी भ्वादिगण (१) का प्रभाव अधिक पाया जाता है। संस्कृत की धातुएं भ्वादिगण में सबसे अधिक संख्या में पाई जाती हैं। सम्भवतः भ्वादिगण का अन्य गणों के रूपों पर अधिक प्रभाव का यही कारण रहा हो। इसके अतिरिक्त तीन वचनों में से द्विवचन पाली में लुप्त हो गया, और छः प्रयोगों में से आत्मनेपद और परस्मैपद में अन्तिम का प्रभाव विशेष हो जाने से वास्तव में पाँच ही प्रयोग पाली में रह गए। संस्कृत के लट् और लृङ के निकल जाने से पाली के लकारों की संख्या भी दस से आठ रह गई। इस तरह किसी एक धातु के पाली में साधारणतया २४० (५ × ८ × २ × ३) ही रूप हो सकते हैं।

प्राकृतों की क्रिया सरलता में एक कदम और आगे बढ़ गई है। महाराष्ट्री में गणों का प्रायः अभाव है। समस्त क्रियायें साधारणतया प्रथम भ्वादिगण के समान रूप चलाती हैं। छः प्रयोगों में से केवल तीन—कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य तथा प्रेरणार्थक—रह गए। द्विवचन तो लौटकर

आया ही नहीं। कालों में केवल चार—वर्तमान, आज्ञा, भविष्य तथा कुछ विधि चिह्न रह गए हैं। कालों के कम हो जाने से कृदन्त के रूपों का व्यवहार अधिक होने लगा। जिसका प्रभाव आ० आ० भा० की क्रिया के इतिहास पर विशेष पड़ा। अब तक भी क्रिया के अधिकांश रूप संयोगात्मक ही थे यद्यपि इस सम्बन्ध में कुछ गड़बड़ी शुरू हो गई थी।

प्रा० तथा म० आ० भा० की क्रिया के विकास के सम्बन्ध में संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि संस्कृत तीनों में क्रिया संयोगात्मक ही रही किन्तु रूपों की संख्या में क्रमशः कमी होती गई है। जब प्रत्येक प्रयोग काल तथा वचन आदि के अर्थों को व्यक्त करने के लिए धातु क पृथक्-पृथक् रूप नहीं रह गए तब वियोगात्मक ढंग से नए रूपों का बनाया जाना स्वाभाविक था। यह अवस्था हमें आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में आकर मिलती है।

अन्य आ० भा० आ० भाषाओं की क्रियाओं की तरह ही हिन्दी क्रिया के रूपान्तरों का ढंग अत्यन्त सरल है। पाँच धातुओं को छोड़कर शेष हिन्दी धातुओं में संस्कृत के गणों के समान किसी प्रकार का भी श्रेणी-विभाग नहीं है। प्रयागों को प्रकट करने का ढंग भी हिन्दी का अपना नया है। इसकी सहायता से हिन्दी में प्रयोगों के भाव स्पष्ट रूप से किन्तु सरलतापूर्वक प्रकट हो जाते हैं।

ये रूप संयोगात्मक हैं। कालों की संख्या पंद्रह के लगभग है किन्तु यह प्रायः कृदन्त अथवा कृदन्त और सहायक क्रिया के संयोग से बनते हैं। संस्कृत कालों से विकसित काल हिन्दी में दो तीन ही हैं। म० भा० आ० भाषाओं के समान हिन्दी में एकवचन और बहुवचन ये दो ही वचन हैं जिन के तीन पुरुषों में तीन तीन रूप होते हैं। सबसे बड़ी विशेषता यह है कि हिन्दी क्रिया के रूपों की बनावट में वहुत वड़ी संख्यायें वियोगात्मक हो गई हैं। शुद्ध संयोगात्मक रूप बहुत कम मिलते हैं। कुछ में दोनों प्रकार के रूपों का मिश्रण है। इस सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक आगे वर्णन किया जायगा।

(आ) धातु

धातु क्रिया के उस अंश को कहते हैं जो उसके समस्त रूपान्तरों में पाया जाता है। जैसे चलना, चला, चलेगा, चलता और समस्त रूपों में चल् अंश समान रूप से मिलता है। अतः चल धातु मानी जायेगी। धातु की धारणा वैयाकरणों के मस्तिष्क की उपज है। यह भाषा का स्वाभाविक अंग नहीं है। क्रिया के—ना से युक्त साधारण रूप से—ना हटा देने पर हिन्दी धातु निकल आती है। जैसे खाना, देखना, चलना आदि में खा, देख, चल धातु हैं।

वैयाकरणों के अनुसार संस्कृत धातुओं की संख्या लगभग १००० मानी जाती है। इनमें से केवल ८०० का प्रयोग वास्तव में प्राचीन साहित्य में मिलता है। इन ८०० में २०० के लगभग तो केवल वेदों और ब्राह्मण ग्रंथों में प्रयुक्त हुई हैं। ५०० वैदिक और संस्कृत दोनों साहित्यों में मिलती हैं; और १०० से कुछ अधिक केवल संस्कृत में मिलती हैं। म० भा० आ० काल में आते-आते इन ८०० धातुओं की संख्या और रूपों में परिवर्तन हुआ। जैसा ऊपर कहा जा चुका है वैदिक काल की लगभग २०० धातुएँ संस्कृत काल में ही लुप्त हो चुकी थीं। आगे चलकर संस्कृत में प्रयुक्त धातुओं में से भी बहुतों का प्रचार नहीं रहा। प्राचीन धातुओं के आधार पर कुछ नई धातुएँ भी बन गईं तथा कुछ बिल्कुल नई धातुएँ प्रचलित भाषाओं से भी आ गई हैं। प्राकृत धातुओं की ठीक-ठीक गणना अभी कदाचित् नहीं हो पाई है।

हार्नली के अनुसार हिन्दी धातुओं की संख्या लगभग ५०० है। ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी धातुएँ दो मुख्य श्रेणियों में विभक्त की जाती हैं—मूल धातु और यौगिक धातु। हिन्दी में मूल धातु वे हैं जो संस्कृत से हिन्दी में आई हैं। हार्नली के अनुसार इनकी संख्या ३९३ है। मूल धातुओं में भी कई वर्ग किए जा सकते हैं। कुछ मूल धातुएँ संस्कृत धातुओं से बिल्कुल मिलती-जुलती हैं।

(हि० खा ∠ सं० खाद) कुछ में संस्कृत के किसी विशेष गण के रूप का प्रभाव पाया जाता है। या गण परिवर्तन हो जाता है (हि० नाच ∠ सं० नृत-य) और कुछ में वाच्य का परिवर्तन मिलता है। (हि० बेच ∠ सं० विक्रय) इस दृष्टि से हार्नली ने मूल धातुओं को सात वर्गों में रक्खा है। चैटर्जी मूल धातुओं को निम्नलिखित चार मुख्य वर्गों में रखते हैं।

१—वे मूल धातुएँ जो प्रा० भा० आ० से आई हैं (तद्भव)।

२—वे मूल धातुएँ जो प्रा० भा० आ० की धातुओं के प्रेरणार्थक रूपों से आई हैं। (तद्भव)

३—वे मूल धातुएँ जो आधुनिक काल में संस्कृत से ले ली गई हैं। (तत्सम या अर्द्ध-तत्सम)

४—वे मूल धातुएँ जिन की व्युत्पत्ति संदिग्ध है। ये सब देशी हों यह आवश्यक नहीं।

हिन्दी यौगिक धातुएँ वे कहलाती हैं जो संस्कृत धातुओं से तो नहीं आई हैं किन्तु जिनका सम्बन्ध या तो संस्कृत रूपों से है और या आधुनिक काल में गढ़ी गई हैं। यह तीन वर्गों में विभक्त की जा सकती हैं।

१—नाम धातु (हि० जम ∠ सं० जन्म)।

२—संयुक्त धातु (हि० चुक ∠ सं० च्युत्+कृ)।

३—अनुकरणमूलक, अथवा एक ही धातु को दोहरा कर बनाई हुई धातुएँ (हि० फूकना, फड़फड़ाना)।

हार्नली के अनुसार हिन्दी यौगिक धातुओं की संख्या १८६ है।

मूल और यौगिक धातुओं के अतिरिक्त कुछ विदेशी भाषाओं की धातुएँ तथा शब्द हिन्दी में धातुओं के समान प्रयुक्त होने लगे हैं।

सहायक क्रिया

हिन्दी की काल रचना में कृदन्त रूपों तथा सहायक क्रियाओं से विशेष सहायता ली जाती है। इसलिये काल रचना पर विचार करने के पूर्व इन पर विचार कर लेना अधिक युक्तसंगत होगा। हिन्दी काल

रचना में 'होना' सहायक क्रियाओं का व्यवहार होता है। इसके रूप भिन्न-भिन्न अर्थों और कालों में पृथक् होते हैं। होना के मुख्य रूप नीचे दिए जाते हैं:—

वर्तमान निश्चयार्थ

१. हूँ	हैं
२. है	हो
३. है	हैं

भूत निश्चयार्थ

१. था	थे
२. था	थे
३. था	थे

भविष्य निश्चयार्थ

१. होऊँगा	होवेंगे।
२. होगा	होगे।
३. होगा	होंगे।

वर्त्तमान आज्ञा

१. होऊँ	हों।
२. हो	होओ।
३. हो	होवें।

भूत संभावनार्थ

१. होता	होते।
२. होता	होते।
३. होता	होते।

भविष्य आज्ञा के अर्थ में मध्यम पुरुष बहुवचन में होना रूप प्रयुक्त होता है। स्त्रीलिंग में इनसे अनेक रूपों में परिवर्तन होते हैं।

ये सब रूप हिन्दी में होना क्रिया के रूपान्तर माने जाते हैं किन्तु

व्युत्पत्ति की दृष्टि से इनका सम्बन्ध संस्कृत की एक से अधिक क्रियाओं से है।

हूँ आदि वर्त्तमान निश्चयार्थ के रूपों का सम्बन्ध सं० ∠अस् से माना जाता है। जैसे हि० हूँ (बो० हों) ∠प्रा० अम्हि, अस्मि ∠सं० अस्मि; हि० है (बो० अ) ∠प्रा० अत्थि∠सं० अस्ति। इस क्रिया से बने हुए हिन्दी बोलियों के अनेक रूपों में तथा कुछ अन्य प्रा० भा० भाषाओं के रूपों में भी ∠अस् का अ—वर्त्तमान है। खड़ी बोली हिन्दी में यह लुप्त हो गया है।

था आदि भूत निश्चयार्थ के रूपों का सम्बन्ध सं० ∠स्था से माना जाता है। जैसे—

हि० था∠प्रा० थाइ ठाइ∠सं० स्थित।

हि० √होना के शेष समस्त रूपों का सम्बन्ध सं० √भू से माना जाता है जैसे—

हि० होता∠प्रा० होन्तो—∠सं० भवत्।

हि० हुआ (बो० हुयो, भयो) ∠प्रा० भवि ओ∠सं० भवति।

पूर्वी हिन्दी की कुछ बोलियों में पाए जाने वाले बोटे आदि रूपों का सम्बन्ध सं० ∠वृत् से जोड़ा जाता है। जैसे—हि० बाटै∠प्रा० वट्टइ∠ सं० वर्तते।

हि० रहना की व्युत्पत्ति संदिग्ध है। **चैटर्जी** ने इस सम्बन्ध में विस्तार के साथ विचार किया है किन्तु किसी अन्तिम निर्णय पर नहीं पहुँच सके हैं। **टर्नर** इसका सम्बन्ध सं० रहित आदि शब्दों की ∠रह् धातु से जोड़ते हैं। पहाड़ी, बंगाली, गुजराती, राजस्थानी तथा पुरानी अवधी आदि में पाई जाने वाली छ से युक्त सहायक क्रिया की व्युत्पत्ति प्रा० भा० आ० की कल्पित धातु √अच्छं से मानी जाती थी। टर्नर अन्य मतों का खंडन करके सां० आ√क्षे से इसका उद्गार समझते हैं। हिन्दी में इसके रूपों का व्यवहार नहीं होता।

प्रेरणार्थक धातु

संस्कृत में प्रेरणार्थक (मूल) रूप धातु में—अय—लगाकर बनता है। कुछ स्वरांत धातुओं में धातु और—अय—के—बीच में—प—भी लगता है। जैसे√कृ कारयति,√हस् हासयति, किन्तु√दा दापयति—√गै गापयति। पाली प्राकृत में अधिकांश प्रेरणार्थक धातुओं में—प—जुड़ने लगा था यद्यपि पाली काल तक यह वैकल्पिक रहा, जैसे सं० पाचयति, पाली पाचति, पाचेति, पचापेति। प्राकृत में भी प्रेरणार्थक धातु बनाने के दो ढंग थे। एक में संस्कृत का अय—ए—में परिवर्तित हो जाता था। जैसे सं० कारयति√प्रा० कोरई, दूसरे ढंग से—प—व—में बदल जाता था। जिससे प्राकृत में करावेइ या कारावेइ रूप बनते थे।

हिन्दी में प्रेरणार्थक धातु के चिह्न—आ—वा—प्राचीन चिह्नों के रूपान्तर मात्र हैं। अकर्मक धातुओं में—आ—लगाने से धातु सकर्मक मात्र होकर रह जाती है। अतः ऐसी धातुओं के प्रेरणार्थक रूप—वा—लगाकर बनते हैं, जैसे जलाना, जलना, जलवाना, पकना, पकाना, पकवाना। सकर्मक धातुओं में—आ—या—वा—दोनों चिह्न प्रेरणार्थक का ही बोध कराते हैं; जैसे—लिखना, लिखाना या लिखवाना, करना, कराना, करवाना। हिन्दी में वास्तव में—वा—रूप व्युत्पति की दृष्टि से स्पष्ट प्रेरणार्थक है।

ऐ नाम धातु—नाम धातु भारतीय आर्य भाषाओं में प्राचीन काल से पाये जाते हैं। संज्ञा या विशेषण में क्रिया के प्रत्यय जोड़ने से हिन्दी नाम धातु बनते हैं। हिन्दी नाम धातु के मध्य में आने वाले—आ—का सम्बन्ध संस्कृत नाम धातु के चिन्ह—भाय—से जोड़ा जाता है। इस पर प्रेरणार्थक के—आपय—का प्रभाव भी माना जाता है। जो भी हो हिन्दी में प्रेरणार्थक—आ—और नाम धातु के—आ—के रूप में कोई भेद नहीं रह गया है।

ओ संयुक्त क्रिया—प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं में जो काम

प्रत्यय आदि लगाकर लिया जाता था वह काम अब बहुत कुछ संयुक्त क्रियाओं से होता है। अन्य आधुनिक भाषाओं के समय हिन्दी में भी संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग बहुत पाया जाता है। हिन्दी संयुक्त क्रियाओं की रचना आधुनिक है। अतः इस संबंध में ऐतिहासिक विवेचना असंभव है। संयुक्त क्रियायें द्राविड़ भाषाओं में भी बहुत प्रचलित हैं, किन्तु उनका हिन्दी पर भी प्रभाव पड़ना कठिन मालूम पड़ता है। हिन्दी संयुक्त क्रियाओं का विस्तृत वर्गीकरण गुरु तथा केलाग के व्याकरणों में दिया हुआ है।

शब्द को दोहराकर बनी हुई कुछ संयुक्त क्रियायें भी हिन्दी में पाई जाती हैं, जैसे—खटखटाना, फड़फड़ाना, तिलमिलाना। ये प्रायः अनुकरणमूलक हैं और ऐतिहासिक व्याकरण की दृष्टि से ऐसी साभ्यास क्रियायें कोई महत्त्व नहीं रखतीं।

प्रश्न ३६—हिन्दी भाषा का विकास-क्रम स्पष्ट कीजिए।

हिन्दी भाषा के विकास का इतिहास साधारणतया तीन मुख्य कालों में विभक्त किया जाता है।

१. प्राचीन काल (१५०० ई० तक)

२. मध्यकाल (१५०० से १८०० तक)

३. आधुनिक काल (१८०० से बाद तक)

जिस समय हिन्दी भाषा का इतिहास प्रारम्भ होता है उस समय हिन्दी प्रदेश तीन राज्यों में विभक्त था। इन्हीं तीन केन्द्रों से ही हमें हिन्दी भाषा सम्बन्धी सामग्री प्राप्त होती है। पश्चिम में चौहान वंश की राजधानी दिल्ली थी। दिल्ली राज्य की सीमा पश्चिम में पंजाब के मुसलमानी राज्य की सीमा से मिली हुई थी। दक्षिण पश्चिम में राजस्थान के राजपूत राज्यों से इसकी घनिष्ठता थी। किन्तु पूर्व की सीमा पर सदा घरेलू युद्ध होते रहते थे। नरपति नाल्ह तथा चंद कवि का सम्बन्ध क्रम से अजमेर और दिल्ली में था। चौहान राज्य के पूर्व में राठौर वंश की राजधानी कन्नौज थी और इस राज्य की सीमाएँ अयोध्या

तथा काशी तक चली गई थीं। कन्नौज के अन्तिम सम्राट जयचन्द का दरबार साहित्य-चर्चा का मुख्य केन्द्र था, किन्तु यहाँ भाषा की अपेक्षा संस्कृत तथा प्राकृत का कदाचित् अधिक आदर था। संस्कृत के अन्तिम महाकाव्य नैषधीय-चरित के लेखक श्री हर्ष जयचन्द के दरबार के ही राजकवि थे। कन्नौज के दरबार में भाषा साहित्य की चर्चा भी रही होगी परन्तु प्राचीन कन्नौज के पूर्ण रूप से नष्ट हो जाने के कारण इस केन्द्र की सामग्री अब उपलब्ध नहीं। इन दो राज्यों के दक्षिण में महोबा का प्रसिद्ध राज्य था। महोबा के राजकवि जगनायक या जगनिक का नाम भी आज तक प्रसिद्ध है किन्तु इस महाकवि की मूलकृति का अब कुछ पता नहीं चलता।

११९१ ई० तक मध्यप्रदेश के ये तीनों अन्तिम हिन्दू राज्य मौजूद थे किन्तु इसके बाद दस-बारह वर्ष के अन्दर ही ये तीनों राज्य नष्ट हो गए। ११९१ में मुहम्मद गौरी ने पानीपत के निकट पृथ्वीराज को हराकर दिल्ली पर अधिकार कर लिया। अगले वर्ष इटावा के निकट जयचन्द की हार हुई। कन्नौज से लेकर काशी तक का प्रदेश विदेशियों के हाथ में चला गया। शीघ्र ही महोबा पर भी मुसलमानों का कब्जा हो गया। इस तरह समस्त हिन्दी प्रदेश पर विदेशी शासकों का आधिपत्य हो गया। विकासोन्मुख नवीन भाषा के लिए यह बड़ा भारी धक्का था जिसके प्रभाव में आकर हिन्दी अब तक भी मुक्त नहीं हो पाई। हिन्दी भाषा के इतिहास के संपूर्ण प्राचीन काल में मध्यदेश पर तथा उसके बाहर शेष उत्तर भारत पर भी तुर्की मुसलमानों का साम्राज्य रहा। इन सम्राटों की मातृ-भाषा तुर्की थी, तथा दरबार की भाषा फारसी। अतः इन विदेशी शासकों की रुचि जनता की भाषा तथा संस्कृत के अध्ययन की ओर बिल्कुल न हुई। अतः दिल्ली के राजनैतिक केन्द्र से हिन्दी भाषा की उन्नति में बिल्कुल सहायता न मिल सकी। इस काल में केवल अमीर खुसरो ने मनोरंजन के लिए भाषा से कुछ प्रेम दिखाया। इस काल के अन्तिम दिनों में पूर्वी हिन्दुस्तान में धार्मिक आंदोलन के

कारण भाषा में कुछ काम हुआ। किन्तु इसका सम्वन्ध तत्कालीन राज्य से बिल्कुल न था। इस प्रकार के आंदोलनों में गोरखनाथ, रामानन्द तथा उनके प्रमुख शिष्य कबीर के साम्प्रदाय उल्लेखनीय हैं।

विदेशी शासन होने के कारण इस काल में हिन्दी भाषा में लिखे शिला लेखों तथा ताम्रपत्रों आदि के अधिक संख्या में पाये जाने की सम्भावना कम है। हिन्दी के सब प्राचीन नमूने पृथ्वीराज और समर-सिंह के दरबारों से सम्बन्ध रखने वाले मिलते हैं परन्तु वे अप्रामाणिक सिद्ध हो चुके हैं।

डा० पीताम्बर बर्थवाल तथा श्री राहुल सांस्कृत्यायन ने नामपंथ तथा वज्रयानी के सिद्ध साहित्य की बहुत सी नवीन सामग्री की खोज की है। परन्तु इस सामग्री की प्राचीनता और प्रामाणिकता पर अभी सन्देह है। इन कवियों का समय ७०० ई० से १३०० ई० के बीच का माना जाता है। प्रारम्भिक सिद्धों की कृतियों की भाषा स्पष्टतया अपभ्रंश मागधी है।

पंडित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने "पुरानी हिन्दी" लेख में जो नमूने दिये हैं वे प्रायः गंगा की घाटी के बाहर के प्रदेशों के बने ग्रन्थों के हैं। अतः इनमें हिन्दी के प्राचीन रूपों का कम पाया जाना स्वाभाविक है। अधिकांश उदाहरणों में प्राचीन राजस्थानी के नमूने मिलते हैं। इन उदाहरणों की भाषा में अपभ्रन्श का प्रभाव भी है। इन ग्रंथों को अपभ्रंश साहित्य में रखा जा सकता है। पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में इनको रखा है।

इस काल की भाषा के नमूनों का तीसरा समूह चारणों के धार्मिक तथा लौकिक काव्य ग्रंथों में मिलता है। इन ग्रन्थों की भाषा अत्यन्त संदिग्ध है। क्योंकि किसी भी ग्रन्थ की हस्तलिपि उपलब्ध नहीं। बहुत दिनों तक मौखिक रूप में रहने के पश्चात् भाषा में परिवर्तन आना स्वाभाविक है। इस काल के मुख्य कवि और प्रकाशित ग्रन्थों का विवरण इस प्रकार है।

नरपतिनाल्ह का वीसलदेव रासो—जिसे हस्त लिपि के आधार पर प्रकाशित किया गया। इसका रचना काल १६१२ से १८०२ ईसवी माना जाता है। इस पर राजस्थानी का प्रभाव स्पष्ट है। कहीं-कहीं खड़ी बोली के रूप मिलते हैं।

चन्दवरदाई का कविताकाल ११६८ से ११६१ तक माना जाता है। वर्तमान पृथ्वीराज रासो अप्रामाणिक है। इसमें ब्रजभाषा के साथ-साथ अपभ्रन्श खड़ी बोली तथा राजस्थानी का मिश्रण दिखाई पड़ता है।

इसके पश्चात् खुसरो का समय १२५५ से १३२५ ईसवी तक माना जाता है। इनके सभी प्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना फारसी में हुई है। इनकी कविता का आधार एकमात्र जनश्रुति है। गोरखनाथ की गोरखवाणी नाम से प्रकाशित रचना है। विद्यापति के पदों का संग्रह मैथिली और बंगाली में संगृहीत है। कीर्ति-लता, कीर्ति-पताका आदि इनके ग्रन्थ हैं।

कबीरदास तथा उनके सन्तों की वाणी बहुत देर तक मौखिक रूप में चलती रही। अतः इनकी भाषा में नवीनता का प्रवेश होना स्वाभाविक ही था। भाषाशास्त्र की दृष्टि से ये सभी ग्रन्थ अप्रामाणिक हैं।

तत्पश्चात् हिन्दी भाषा के विकास का मध्यकाल १५०० से १८०० ई० तक माना जाता है। १५०० के पश्चात् देश की परिस्थिति ने एक बार फ़िर पलटा खाया। क्योंकि उस समय शासन की बागडोर तुर्की सम्राटों के हाथ से निकल कर मुगलों के हाथ में चली गई। जिससे देश भर में अशान्ति का साम्राज्य छा गया। शान्ति प्राप्त करने के लिए तत्काल भक्ति की लहर पैदा हुई। वास्तव में हिन्दी साहित्य का यह स्वर्णकाल है।

अवधी और ब्रज के दो मुख्य साहित्यिक रूपों का विकास १६ वीं शती में हुआ। अवधी में लिखा गया रामचरितमानस हिन्दी जनता के सम्मुख आया। मध्यकाल में लिखे गये अवधी का ग्रन्थ जायसी कृत पद्मावत है। १६ वीं शती में अवधी में अन्य कोई ग्रन्थ न लिखा गया।

१६ वीं शती के पूर्वार्द्ध में ब्रजभाषा में साहित्य रचना प्रारम्भ हुई। हिन्दी साहित्य की इस शाखा का केन्द्र पश्चिम मध्य देश था। अतः ब्रजभाषा को विदेशी तथा देशी राज्यों के साथ-साथ धर्म की संरक्षता भी प्राप्त हो गई। सूरदास के ग्रन्थ १५५० में रचे जा चुके थे। तुलसीदास ने भी विनयपत्रिका लिखी। अष्टछाप समुदाय के दूसरे महाकवि नन्ददास ने भी साहित्यिक ब्रजभाषा में अपनी ग्रन्थ रचना की। १७ वीं शताब्दी में प्रायः समस्त हिन्दी साहित्य ब्रजभाषा में लिखा गया। इस भाषा का स्वरूप परिष्कृत होता चला गया।

प्राचीन तथा मध्यकाल के ग्रन्थों में यत्र तत्र खड़ी बोली के रूप भी बिखरे पड़े हैं। रासो, कबीर, भूषण आदि की भाषा में खड़ी बोली का पर्याप्त प्रयोग मिलता है। अतः स्पष्ट है कि खड़ी बोली का अस्तित्व काफी पहले से ही था। खड़ी बोली उर्दू के सर्वप्रथम कवि वली थे। इनका कविताकाल १८ वीं सदी है। १८ वीं तथा १९ वीं सदी में गालिब, इंशा, मीर, दाग आदि ने कविता कर इस भाषा को परिमार्जित रूप दिया।

इसके पश्चात् हिन्दी भाषा का आधुनिक काल आता है। इस काल का प्रारम्भिक विकास भी संघर्ष और क्रान्ति में हुआ। १८ वीं सदी के पश्चात् तीन महान शक्तियों ने हिन्दी पर अधिकार करना चाहा—अँगरेज, अफगान और मराठा। इस राजनीतिक संघर्ष के कारण मध्यदेश की भाषा हिन्दी पर प्रभाव पड़ा। १८ वीं सदी में ब्रजभाषा की शक्ति क्षीण हो चुकी थी। खड़ी बोली उर्दू मुसलमानों के बीच जोर पकड़ने लगी थी। अतः १९ वीं सदी के प्रारम्भ में अंग्रेजों ने हिन्दुओं के लिए खड़ी बोली गद्य के सम्बन्ध में कुछ प्रयोग करवाये जिनके फलस्वरूप फोर्ट विलियम कालेज में लल्लूलाल ने प्रेमसागर, सदल मिश्र ने नासिकेतोपाख्यान की रचना की। खड़ी बोली हिन्दी गद्य का प्रचार १९ वीं सदी के उत्तरार्ध में हुआ इसका श्रेय साहित्य के क्षेत्र में भारतेंदु हरिश्चन्द को है। इस प्रकार मुद्रण कला के साथ-साथ खड़ी बोली

हिन्दी का प्रचार बढ़ा। १६ वीं सदी तक पद्य रचना व्रजभाषा में होती रही किन्तु २० वीं सदी में आते-आते खड़ी बोली हिन्दी सम्पूर्ण गद्य-पद्य की साहित्यिक भाषा बन गई। खड़ी बोली पद्य के प्रारम्भ के कवियों की भाषा में, लल्लूलाल में प्रथम गद्य लेखकों के समान व्रजभाषा की झलक पर्याप्त मात्रा में मिलती है। श्रीधर पाठक की कविता में भी व्रजभाषा की छाप थी परन्तु धीमे-धीमे व्रजभाषा बिल्कुल समाप्त हो गई। साहित्य के क्षेत्र में खड़ी बोली हिन्दी ने व्यापकता प्राप्त की। अब गद्य और पद्य दोनों की रचना खड़ी बोली में ही होती है। इस प्रकार भाषा का साहित्य पर्याप्त विकास पर है।

प्रश्न ३७—पाली शब्द का इतिहास और व्युत्पत्ति बताते हुए संस्कृत और पाली का अन्तर स्पष्ट कीजिए।

जिसे आज हम पालि भाषा कहते हैं वह उसका प्रारम्भिक नाम नहीं है। भाषा-विशेष के अर्थ में पालि शब्द का अर्थ अपेक्षाकृत नवीन है। पाली शब्द का सबसे पहला व्यापक प्रयोग हमें आचार्य बुद्धघोष की अट्ठ कथाओं में तथा उनके विशुद्ध मग्ग में मिलता है। आचार्य बुद्धघोष ने पालि शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया है—१. मूलत्रिपिटक या बुद्ध वचन के अर्थ में। २. मूल त्रिपिटक के पाठ के अर्थ में। विसुद्धि मग्ग में—इमानि तात्र पालियं अट्ठ कथायं पन" (ये तो न पालि में है न अट्ठ कथा में है) "नेव पालियं न अट्ठ कथायं आगतं।" इसी प्रकार सुमंगलवासिनी की 'सामञ्जफल सुत वण्णना' में भी पालि शब्द का प्रयोग हुआ है जैसे—नेव पालियं न अ ठ कथायं दिस्सति" (न पालि में और न अट्ठ कथा में दिखाई देता है)। ऐसी ही पाठान्तर का निर्देश करते हुए कहा है इति पि पालि अर्थात् "ऐसा भी पाठ है" पालि को यहाँ मूल त्रिपिटक के पाठ के अर्थ में प्रयुक्त किया है। इसी प्रकार साम-ञ्जफल सुत वण्णना में "महच्चा इति पि पालि" कहा है अर्थात् महच्या ऐसा भी पाठ है। यहाँ पर पालि शब्द का अर्थ निश्चित रूप से पाठ के रूप में हुआ है।

आचार्य बुद्धघोष के पूर्व लंका में लिखे गये दीपवंस में बुद्ध वचनों के अर्थ में पालि शब्द का प्रयोग हुआ है। आचार्य बुद्धघोष के बाद भी पालि शब्द का प्रयोग उपर्युक्त दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता रहा है। खुद्दकनिकाय से कतिपय ग्रन्थों की अट्ठ कथा परमत्थ दीपिनी में भी पालि शब्द का अर्थ मूल त्रिपिटक के पाठ के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। तेरहवीं शताब्दी में लिखे गये चूल वंश नामक ग्रन्थ में भी पालि शब्द का प्रयोग 'बुद्ध वचन' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

ये उद्धरण पालि शब्द के अर्थ निर्धारण के लिए बड़े उपयोगी सिद्ध होते हैं। चौथी शताब्दी ईसवी से लेकर चौदहवीं शताब्दी ईसवी तक जिन अर्थों में पालि शब्द का प्रयोग हुआ है उनके द्वारा पालि के इतिहास की गवेषणा करना सहज हो जाता है। इन महत्वपूर्ण उद्धरणों में पालि शब्द के जो अर्थ बताये गये हैं, उन्हीं को आधार मान कर आधुनिक विद्वानों ने कुछ महत्वपूर्ण स्थापनाएँ की हैं। जिनमें तीन स्थापनाएँ अधिक प्रभावशाली हैं। पहली स्थापना में पालि का अर्थ बुद्ध वचन या मूल त्रिपिटक के अर्थ को व्यक्त करता है। इसलिए इसका मूल रूप भी कोई ऐसा ही शब्द रहा होगा। दूसरी स्थापना पालि के पाठ अर्थ को महत्ता देता है। तीसरी स्थापना पालि शब्द के पंक्ति अर्थ को प्रधानता देती है।

पहली स्थापना के आधार पर पालि शब्द का प्राचीनतम रूप हमें परियाय मिलता है। जो त्रिपिटक में अनेक बार आया है। जैसे—"को नामो अयं भन्ते धम्मपरियायोति" धम्म पलियाय से पलि शब्द का दीर्घ करके पालियाय बना जिससे पालि हो गया। दूसरी स्थापना के अनुसार पालि शब्द का अर्थ पाठ के रूप में है। इस मत के अनुसार संस्कृत 'पाठ' शब्द का हा विकृत रूप पालि है। पालि शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में तीसरी स्थापना के अनुसार इसका अर्थ पंक्ति का है। पं० विधुशेखर भट्टाचार्य ने इसका अर्थ पंक्ति माना है। इस मत को पालि भाषा और साहित्य का भी समर्थन प्राप्त हो रहा है। पालि के प्रसिद्ध

कोष 'अभिधानप्पदीपिका' में पालि का अर्थ पंक्ति और वुद्ध वचन दिया गया है—"तन्ति वुद्ध वचनं पन्ति" पालि में वुद्ध वचन अर्थ देती है और पालि साहित्य में दन्तपालि, अम्बपालि जैसे प्रयोग देखकर इसका अर्थ पंक्ति ठहरता है।

इन मतों के अतिरिक्त प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डा० मैक्स वैलेसर ने पाडलि, या पाटलि शब्द से पालि शब्द को संक्षिप्त रूप दिया है। इससे अर्थ पाटलिपुत्र की भाषा से है। यह मत कोई विशेष महत्व नहीं रखता क्योंकि पालि शब्द का भाषा के रूप में प्रयोग तो अट्ठ कथाओं में भी नहीं मिलता फिर यह मत स्वयं ही गिर जाता है। इसी प्रकार कुछ विद्वान् पल्लि (गाँव) शब्द से इसकी व्युपत्ति बता कर इसे ग्रामीण भाषा बनाने की विफल चेष्टा करते हैं। कई प्राकृत, पाकट, पाअड़, पाअल, पालि आदि विभिन्न शब्दों की कल्पना करते हैं परन्तु ये सब अन्धकार ही अन्धकार में हैं।

अभिधानप्पदीपिका में पालि शब्द का अर्थ महत्वपूर्ण है। पालि शब्द को वुद्ध वचन तथा पंक्ति का समानार्थक मानते हुए इसकी व्युत्पत्ति की गई है।—"या पालेति, रक्खतीति पालि" अर्थात् जो पालन करती है, रक्षा करती है वह पालि है। किसकी रक्षा करती है किसका पालन करती है। उत्तर में—वुद्ध वचनों का। इससे प्रतीत होता है कि अभिधानप्पदीपिका के लेखक ने रक्षा करती है, पालन करती है, ऐसा अर्थ करके सिंहलद्वीप में जो वुद्ध का कार्य हुआ था उसकी ओर संकेत किया है।

पालि शब्द की भाषा का अर्थ कब मिला यह निर्धारण करना कठिन है परन्तु सिंहलद्वीप में तन्ति शब्द का प्रयोग भाषा में देखकर ही पालि शब्द को भाषा के रूप प्रयुक्त किया है यह मत निश्चित है। पालि शब्द का प्रयोग हम उस भाषा के लिए करते हैं जिसमें सम्यक् सम्बुद्ध ने अपना भाषण दिया। इसी अर्थ को व्यक्त करते हुए कच्चाम व्याकरण में कहा गया है कि "सा मागधी मूल भाषा" "सम्बुद्ध चापि

भासरे" अट्ठ कथाचार्य बुद्धघोष ने भी यही स्वीकार किया है सम्यासम्बुद्धेन वुतप्पकारो मागधको वोहारो।" इसी से निश्चय यह होता है कि पालि भाषा उसे ही कहते हैं जो बुद्ध कालीन भारत में बोले जाने वाली मागधी है।

संस्कृत और पालि में अन्तर—संस्कृत और पाली दोनों ही मध्य कालीन आर्य भाषाएँ हैं। दोनों ही समान स्रोत वैदिक भाषा से उद्भूत हुई हैं। परन्तु जिस प्रकार कबीर ने पन्द्रहवीं शताब्दी में लोक भाषा हिन्दी का संस्कृत से मिलान करते हुए संस्कृत को 'कूपजल' और हिन्दी को बहता नीर कहा है उसी प्रकार यदि पालि और संस्कृत का मिलान किया जाए तो पालि भी वह बहता हुआ नीर है जो वैदिक काल से लेकर अप्रतिहत गति से मध्य मण्डल तक प्रवाहित होता हुआ चला आ रहा है। वहाँ संस्कृत वह बद्ध महासरोवर है जिसमें समस्त आर्य ज्ञान अनुमापित हो चुका है। एक की गति अवरुद्ध है तो दूसरे में आवर्त—विवर्तों की लहरें सतत गति से चल रही हैं। पालि प्राकृत की सभी सीमाएँ पार करके अनेक प्रान्तीय बोलियों में प्रवेश करती हुई तथा अपभ्रन्श के नाना रूपों में समाविष्ट होती है। संस्कृत पुरानी-युवती है अतः पुरानी होते हुए भी वह सदा नया रूप धारण करती है। पालि त्रिपिटिक में पालि के तारुण्य और बाल्यावस्था के दर्शन हाते हैं अनुपालि साहित्य में इसके वृद्धत्व के। पालि के विभिन्न भाव हैं जो समय और स्थान से भेद ग्रहण करते हैं।

उद्गम की दृष्टि से पालि और संस्कृत सहोदरा हैं। परन्तु दोनों में एक अधिक निखरी हुई है। दोनों की स्वर तन्त्रियों और शब्दों की समानता होते हुए भी एक अधिक परिष्कृत है; दूसरी कम।

वैदिक-ध्वनि समूह ही प्रायः संस्कृत में उपलब्ध होता है। संस्कृत से मिलान करने पर दोनों में कुछ स्वर और व्यंजन सम्बन्धी अन्तर इस प्रकार प्रतीत होता है।

संस्कृति के ह्रस्व स्वर अ, इ, उ पालि में वैसे ही सुरक्षित हैं। यदि संस्कृत में अ संयुक्त व्यंजन से पहले होता है तो पालि में उसका ह्रस्व 'ए' बन जाता है जैसे—फल्गु, से फेग्गु, शय्या से सेय्या। यदि संस्कृत में ए और ओ संयुक्त व्यंजन से पहले होते हैं तो पालि में क्रमशः ए और ओ हो जाते हैं।

पालि में आते-आते विसर्ग का लोप हो गया है। प्राकृतों में भी वह नहीं मिलता। इसका परिवर्तन तीन प्रकार से हुआ है। जैसे—दुःखं > दुक्खं। अकारान्त शब्दों के परे विसर्ग का ओ हो गया है जैसे देवः > देवो। इकारान्त तथा उकारान्त शब्दों से परे विसर्ग का लोप है जैसे अग्निः > अग्नि। धेनुः > धेनु।

समीपवर्ती स्वरों का प्रभाव पालि में दूसरे स्वर पर भी पड़ता है। पालि में स्वर अनुरूपता हम देखते हैं।

१. पूर्ववर्ती स्वर का परवर्ती स्वर हो जाना (समीपवर्ती स्वर विपर्यय)

२. संस्कृत में इ के बाद उ होता है पालि में इ की जगह भी उ होता है=इषु> उसु। इसी प्रकार अ के वाद संस्कृत में उ आता है पालि में अ की जगह उ हो जाता है।

पालि में समीपवर्ती व्यंजनों का प्रभाव भी पड़ता है। जैसे—ुगुप्सते > जिगुच्छति।

पालि में स्वराघात का क्या स्वरूप है इसका अभी तक निश्चय नहीं हो सका परन्तु यह वात निश्चित् है कि आर्य भापाकाल के वाद ही स्वराघात को लगाने का प्रयोग उठ गया था। जेकोवी और गायगर का मत है कि पालि में स्वराघात का वही रूप है जो संस्कृत में। संस्कृत की तरह पालि में सम्प्रसार तथा अक्षर संकोच भी मिलता है। पालि में स्वरागम प्रायः शब्द के मध्य में होता है। स्त्री से इत्थी, स्मयते से अम्हयति आदि अपवाद है शब्द के मध्य

में स्थित उन्हीं संयुक्त व्यंजनों के बीच में स्वर का आगमन होता है जिनमें य, र, ल, व में से कोई व्यंजन हो या जो सानुनासिक हो। पालि में अधिकतर इ का आगम अधिक होता है जैसे ईर्यते > इरियति, ऐसे ही अन्य उदाहरण हैं जैसे ह्लाद > हिलाद, वज्र > वजिर, स्नेह > सिनेह पालि में स्वर-परिवर्तन संस्कृत की अपेक्षा अधिक है। कहीं-कहीं पालि शब्दों का मूल रूप संस्कृत से न मिलकर प्राचीन वैदिक भाषा से मिलता है। इस प्रकार संस्कृत का रूप पालि तक आते-आते पर्याप्त परिवर्तित हो चुका था।

प्रश्न ३८—सादृश्य किसे कहते हैं, उसके पैदा होने के क्या कारण हैं ? सादृश्य के प्रभाव तथा विस्तार के विषय में भी लिखिये।

मनुष्य स्वभाव से ही सरलता प्रिय होता है। किसी नई वस्तु का निर्माण करने के लिए सुविधा के लिए वह पुरानी वस्तु का ही आधार ले लेता है। क्योंकि किसी वस्तु में नवीनता लाना, उसे नया रूप देना, नये ढर्रे में ढालना उसके लिए कष्टप्रद-सा प्रतीत होता है। अतः वह उस वस्तु को बनाने के लिए प्राचीन का आधार लेकर उसी के सादृश्य उसे बना लेता है। उपमान, औपम्य आदि मनुष्य के इसी स्वाभाविक गुण के प्रमाण हैं।

शब्दों को सादृश्य में लाकर उन्हें स्मरण करने में सुविधा रहती है। सैंतिस और सैंतालिस के सादृश्य पैंतिस और पैंतालिस शीघ्र कंठस्थ हो सकता है। इसी प्रकार ग्यारह, बारहा, तेरहा आदि भी सादृश्य के प्रमाण हैं।

सर्वप्रथम रोमांस भाषाओं में सादृश्य को अपनाया गया। पहले इसे मिथ्या सादृश्य कहते थे। बाद में चूँकि सभी सादृश्य ही मिथ्या होते हैं मिथ्या शब्द को छोड़ दिया गया। अब केवल सादृश्य ही प्रचलित है।

अधिकतर लोग सादृश्य को शब्द परिवर्तन का एक कारण समझते हैं। वास्तव में यह भूल है। सादृश्य का प्रयोग तो मुख-सुख के लिए

होता है। इसके प्रयोग से उच्चारण में, स्मरण में बड़ी सुविधा रहती है। 'मझ' शब्द को तुझ के सदृश्य करके मुझ स्मरण करना अधिक सुविधा-जनक प्रतीत होता है। तुझे से मुझ शब्द सादृश्य के शब्द परिवर्तन के कारण नहीं हुआ अपितु 'तुझ' का सादृश्य तो आधार या साधनमात्र है।

सादृश्य का प्रयोग प्रायः सभी भाषाओं में मिलता है। संस्कृत में द्विवचन में युग्म शब्दों के लिए पादौ, कर्णौ, पितरौ जैसा प्रयोग मिलता है। इसका सादृश्य आधार लेकर विलोभ युग्म भी प्रयुक्त होने लगे जैसे—जयाजयों, लाभालाभों आदि। संस्कृत या हिन्दी के द्वन्द्व समास में भी इसी सादृश्य का आधार है जैसे—सिंह-मृगालौ, रामलक्ष्मणों आदि।

सादृश्य का प्रयोग अंग्रेजी में भी मिलता है। Shall से Should और Will से Would बनता है। इसी प्रकार Will और Shall में सादृश्य होना भी स्वाभाविक है। नवीन भाषा सीखने वाले या छोटे बच्चे भी सादृश्य के आधार पर शब्द बना लेते हैं। कभी-कभी विद्यार्थी बहुवचन Box का Boxes देखकर अनुमान से Ox का Oxes बना लेता है। हिन्दी सीखने वाले ऐसे ही मर से मरा, धर से धरा देखकर कर से करा भी गढ़ लेते हैं।

यों तो सुविधा के लिए सादृश्य का सहारा लेना पड़ता है परन्तु इसके लिए भी विभिन्न स्थलों पर विभिन्न संकेत होते हैं। अभि-व्यञ्जना की किसी कठिनाई को दूर करने के लिए भी सादृश्य का सहारा लेना पड़ता है। शब्द को अधिक स्पष्ट करने के लिए भी इसी का आश्रय ग्रहण करते हैं जैसे—यदि रूप बहुत छोटे हों या किसी कारण से अर्थ स्पष्ट न कर सकते हों तो अन्य शब्दों का आधार लेकर रूप बनाना पड़ता है। अंग्रेजी में ग्रीक Ism के आधार पर Opti-mism' Socialism और जर्मन के ard का सहारा लेकर Lastard, Coward आदि शब्द बन गये।

कई बार समानता या विपर्यय पर बल देने के लिए भी इसका सहारा लेते हैं। अंग्रेजी में Before After लैटिन के Antid Postid आदि इसके उदाहरण हैं।

संस्कृत में स्वसृ का पंचमी में स्वसृ मातृ का मातुः पितृ का पितु तो ठीक बनता है पर इन्हीं की समानता को लेकर पति का पत्यु रूप भी चल पड़ा है। हिन्दी में इसी प्रकार विपर्यय पर बल देने के लिए निर्गुण के सादृश्य पर सगुण या सरगुण रूप दे दिया गया है।

किसी प्राचीन अथवा नवीन नियम की संगति मिलाने के लिए भी सादृश्य का आश्रय लेते हैं। कई बार कोई अशुद्ध शब्द चल पड़ता है। उसे प्राचीन नियम के अनुसार अन्य शब्दों के सादृश्य पर नया रूप दे दिया जाता है। कई बार नवीन नियम के अनुसार भी शब्द बनाये जाते हैं। 'इक' प्रत्यय को प्रामाणिक मान कर सामाजिक, व्यवहारिक, इतिहासिक आदि शब्दों को गढ़ दिया गया है।

शीघ्रता अशुद्धि या पाण्डित्य प्रदर्शन के कारण सादृश्य का आधार लेते हैं परन्तु इनका प्रभाव अस्थायी होता है। शीघ्रता से असावधानी से या अशुद्ध प्रयोग से भी सादृश्य का आगमन होता है। बच्चों में और विभाषियों में इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं। घोड़ों, लड़कों और घरों के साथ अनेक शब्द का बहुवचन भी अनेकों बन गया यद्यपि अनेक स्वयं ही बहुवचन है।

कुर्टिअस आदि कुछ विद्वानों का मत है कि सादृश्य का आरम्भ हाल में ही हुआ है। परन्तु व्हील आदि इसका आरम्भ भाषा के आरम्भ के कुछ ही बाद का मानते हैं। यही ठीक भी है; क्योंकि भाषा ही क्या जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मानव के आरम्भ से ही सादृश्य का आरम्भ हुआ होगा। एक के घर को बनता देख दूसरे ने भी बनवाया। तीसरे ने यदि अधिक उपयोगी घर बनाया तो पहले दो ने उसके सादृश्य में घर को और ठीक करवाया। भाषा के आरम्भ होने पर भी यही

सादृश्य की वात लागू होती है। व्याकरण के नियम भी वाद में सादृश्य को देखकर ही वनाये गए होंगे।

सादृश्य का प्रभाव भापा पर वहुत पड़ता है। सादृश्य नियम के विरुद्ध पाये जाने वाले अपवादों को दूर करके उनमें नियमवद्धता लाता है। अंग्रेजी की क्रियाएँ इसीलिए धीमे-धीमे एक रूप होती जा रही हैं। सादृश्य के द्वारा एक भापा का दूसरी भापा पर प्रभाव भी पड़ता है। अंग्रेजी शव्दों और वाक्यों का प्रभाव आज कई हिन्दी लेखकों पर है। जव दो जातियों का मिश्रण होता है, तव वहाँ भी सादृश्य ही भापा के विकास के साथ-साथ दोनों जातियों के अनुकूल भापा को वना देता है। सादृश्य के प्रभाव से भापा सीखने में आसान हो जाती है।

सादृश्य का क्षेत्र वड़ा व्यापक है। भापा विज्ञान की प्रमुख चारों शाखाओं में सादृश्य का क्षेत्र व्यापक है। वाक्य में इसका प्रभाव अन्यों से कम मिलता है। अर्थ में भी अधिक नहीं मिलता। परन्तु रूप और ध्वनि में इसका प्रधान हाथ है। इससे यह कहना असंगत नहीं होगा कि सादृश्य का क्षेत्र कितना व्यापक है और कितना प्रभाव यह भापा के विकास पर डालता है।

प्रश्न ३९—क्लिक ध्वनियाँ क्या होती हैं। क्लिक ध्वनियों का वर्गीकरण करते हुए भारोपीय भाषाओं में उनके स्थान और प्रभाव का परिचय दो।

ध्वनियाँ प्राय: वे होती हैं जिनका उच्चारण करते समय श्वास भीतर से वाहर आता है। परन्तु कुछ ध्वनियाँ ऐसी भी हैं जिनका उच्चारण करते समय श्वास वाहर से भीतर जाता है। ऐसी ध्वनियाँ क्लिक ध्वनियाँ कहलाती हैं। ऐसी ध्वनियाँ अफ्रीका की कई भाषाओं में पाई जाती हैं। दक्षिणी अफ्रीका के वुशमैन भाषा परिवार की भापाओं पर इन ध्वनियों का विशेप प्रभाव दिखाई पड़ता है। क्लिक ध्वनियों का कुछ अनुभव एक पादरी को हुआ है उसका कहना है कि

इन ध्वनियों का उच्चारण करने वाला बोलते समय भूँकता सा प्रतीत होता है।

कुछ एक विद्वानों का कहना है कि सभी ध्वनियों का क्लिक उच्चारण हो सकता है। दो एक ध्वनियों को छोड़कर यह बात ठीक जान पड़ती है। स्पर्श ध्वनियों के क्लिक उच्चारण में स्पर्श बिन्दु तो साधारण ध्वनि का ही रहेगा, अन्तर केवल इतना पड़ेगा कि यों तो भीतर से आती हुई हवा रुकती है फिर उसका विस्फोट होता है परन्तु क्लिक स्पर्श में बाहर से जाने वाली हवा स्पर्श बिन्दु पर रुकेगी फिर उसका विस्फोट होगा। इसी कारण क्लिक ध्वनियों का उच्चारण साधारण स्पर्शों की भाँति ऊँचे स्वर से नहीं हो सकता उनकी लहरें भीतर ही बनेंगी बाहर नहीं; यही कठिनाई अन्य ध्वनियों के साथ है। बुशमैन परिवार की भाषाओं में क्लिक ध्वनियों का बाहुल्य मिलता है। इसलिए उनका वर्गीकरण भी किया गया है। वे छः हैं। जिनमें पाँच प्रधान हैं यथा—मूर्द्धन्य तालव्य, पार्श्विक, दन्त्य, ओष्ट्य।

भारोपीय परिवार की भाषाओं में भी कुछ क्लिक ध्वनियाँ मिलती हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि प्रागैतिहासिक काल में भारोपीय कुल में क्लिक ध्वनियाँ अधिक थीं परन्तु धीमे-धीमे उनका लोप हो गया। आज भी एक ऐसी ध्वनि है जो प्रत्येक जाति और प्रत्येक राष्ट्र में प्रायः एक ही प्रकार से उच्चरित की जाती है। उसका अर्थ भी सर्वत्र एक जैसा ही रहता है। वह ध्वनि है चुम्बन। जिसका अर्थ प्यार होता है। यह भी एक प्रकार की क्लिक ध्वनि है। परन्तु इतनी सर्वमान्य और सर्वप्रिय ध्वनि का भाषा में कोई स्थान नहीं और न ही इसके लिए कोई लिपि चिह्न ही है।

भारोपीय परिवार की अनेक भाषाओं में अब भी घृणा, सन्तोष, दुःख आदि के प्रदर्शन के लिए क्लिक ध्वनियों का प्रयोग है यद्यपि भाषा में उनको कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं दिया गया।

आधुनिक ब्रिटेन में 'हम प्यार करते हैं' के लिए एक शब्द केरोम का कैरोम्प हो गया। वेन्द्रिय का कहना है कि यह P. का बढ़ना क्लिक ध्वनि के कारण है। फ्रांसीसी भाषा में संदेह प्रकट करने के लिए टी (T) की एक प्रकार की क्लिक ध्वनि प्रचलित है। (टी) 'T' का ही वर्त्स्य क्लिक का प्रयोग आश्चर्य प्रकट करने के लिए होता है।

हिन्दी में क्लिक ध्वनियाँ कम नहीं। काँटा गड़ जाने पर या साधारण चीर-फाड़ में हम 'सी' ध्वनि द्वारा अपना दुःख प्रकट करते हैं। किसी की दर्दनाक कहानी सुनकर हम करूणापूर्ण होकर च्-च्-च्-च् कह पड़ते हैं। इक्केवाला घोड़े को 'टिक्-टिक्' ध्वनि उच्चरित करके आगे बढ़ाता हैं। जब कोई चीज़ हमें पसन्द नहीं आती तो हम अस्वीकारात्मक और अनमनस्यकता के साथ अपना भाव प्रकट करने के लिए टिक्, या टक् ध्वनि करते हैं। ये भी क्लिक ध्वनियाँ हैं। इस प्रकार क्लिक ध्वनियों का भाषा में काफी महत्व है।

प्रश्न ४०—कृदन्ती रूपों की व्युत्पत्ति देकर, कृदन्ती कालों का संक्षिप्त परिचय देते हुए हिन्दी के कृदन्ती रूपों का प्रयोग हिन्दी क्रिया की काल रचना में दिखाइए।

हिन्दी काल-रचना में वर्तमानकालिक कृदन्त तथा भूतकालिक कृदन्तों के रूपों का व्यवहार स्वतंत्रतापूर्वक होता है।

वर्तमानकालिक कृदन्त धातु के अन्त में—'ता' लगाने से बनता है। इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत वर्तमानकालिक कृदन्त के—अन्त (शतृ प्रत्ययांत) वाले रूपों से मानी जाती है। जैसे—

हि० पचता∠प्रा० पंचतो∠सं० पंचन् हि० पचती∠प्रा० पंचती ∠सं० पचन्ती भूतकालिक कृदन्त धातु के अन्त में—आ लगाने से बनता है। इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत के भूतकालिक कर्मवाचक कृदन्त के त, इत (क्त प्रत्ययांत) वाले रूपों से मानी जाती है।

जैसे—हिन्दी—चला∠प्राकृत चलिओ∠संस्कृत चलितः।

हिन्दी करा ∠ प्राकृत करिश्रो ∠ संस्कृत कृतः। भोजपुरी आदि बिहारी बोलियों में भूतकालिक कृदन्त में 'ल' अन्त वाले रूप भी पाये जाते हैं। इनका सम्बन्ध मध्य भारतीय आर्य भाषा के इल्ल तथा, प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के 'ल' प्रत्यय से जोड़ा जाता है।

हिन्दी में पाये जाने वाले कृदन्तों की व्युत्पत्ति भी इस प्रकार है।

पूर्वकालिक कृदन्त अविकृत धातु के रूप में रहता है या धातु के रूप में कर, के, करके लगा कर बनता है।

संस्कृत में यह कृदन्त 'त्वा' और य लगा कर बनता है। क्रिया के पहले उपसर्ग आने पर ही संस्कृत में 'य' लगता था किन्तु प्राकृत में यह भेद भुला दिया गया और उपसर्ग न रहने पर भी सं०—य से सम्बन्ध रखने वाले रूपों का व्यवहार हो गया। इस तरह धातु रूप में पाये जाने वाले हिन्दी पूर्वकालिक कृदन्त का संबन्ध सं०—य अन्त वाले रूप से है। चाहे संस्कृत में इन विशेष शब्दों में—त्वा ही लगाया जाता हो जैसे—हिन्दी सुन (व्रज०सुनि) ∠ प्रा० सुणिअ, संस्कृत श्रुत्वा।

हिन्दी—सींच (ब्र० सींचि) ∠ प्रा० सींचिअ ∠ संस्कृत सिक्त्वा।

हिन्दी की बोलियों में इस प्रकार के इकारान्त संयोगात्मक पूर्वकालिक कृदन्त रूपों का प्रयोग बराबर पाया जाता है। व्यवहार में आते-आते इस इकार का लोप हो गया और खड़ी बोली में "यह बात सुन सीधा घर गया" इस तरह के वाक्य बराबर व्यवहृत होते हैं। अन्त्य—इ के लुप्त हो जाने से क्रिया के धातु वाले रूप और इस कृदन्त के रूप में कुछ भी भेद नहीं रह गया अतः ऊपर से कर, के, करके आदि शब्द जोड़े जाते हैं। हिन्दी कर की व्युत्पत्ति प्रा० करिअ से तथा हिन्दी 'के' की व्युत्पत्ति प्रा० कइव से है।

क्रियार्थक संज्ञा धातु के अन्त में 'ना' जोड़ने से बनती है। बीम्ज के अनुसार 'ना' का सम्बन्ध भविष्य कृदन्त अनीय (ल्यु) से है। जैसे हिन्दी ∠ करना ∠ प्राकृत करणअं करणीअं ∠ सं० करणीयं।

बोलियों में एक रूप 'अन' मिलता है। जैसे—देखन (देखना) चलन (चलना)। इस—अन का सम्बन्ध संस्कृत क्रियार्थक संज्ञा—अनं (जैसे सं० करणं चलनं) से लगाया जाता है। चैटर्जी के मतानुसार हिन्दी 'ना' भी इसी संस्कृत प्रत्यय से सम्बद्ध है। क्रियार्थक संज्ञा का व्यवहार हिन्दी में भविष्य आज्ञा के लिए भी होता है। जैसे तुम कल घर जरूर आना।

ब्रजभाषा, बंगाली, उड़िया, गुजराती आदि अन्य आधुनिक आर्य भाषाओं में 'व' लगा कर क्रियार्थक संज्ञा बनती है। इसका सम्बन्ध संस्कृत कर्मवाच्य भविष्य कृदन्त प्रत्यय तव्य से माना जाता है। जैसे—हिन्दी करव∠प्रा० करे अव्वं करिअव्व∠संस्कृत कर्तव्यम्। हिन्दी की कुछ बोलियों में भविष्य काल में भी इस—'व' अन्त वाले रूप का व्यवहार पाया जाता है।

कर्तृवाचक संज्ञा क्रियार्थक संज्ञा के विकृत रूप में वाला हारा आदि शब्द लगा कर बनाई जाती है। जैसे मरने वाला, जाने वाला आदि। हिन्दी में वाला का सम्बन्ध संस्कृत पालक से जोड़ा जाता है। हिन्दी हारक की व्युत्पत्ति कुछ लोग संस्कृत धारक तथा अन्य संस्कृत कारक से मानते हैं।

बोलियों में अइया लगा कर भी कर्तृवाचक संज्ञा बनती हैं। जैसे पढ़ैया, चढ़ैया आदि। इसका सम्बन्ध संस्कृत कर्तृवाचक संज्ञा को प्रत्यय तृ न क से माना जाता है। जैसे हिन्दी पढ़ैया∠पठतृकः।

तात्कालिक कृदन्त रूप वर्तमानकालिक कृन्दत के विकृत रूप में लगा कर ही बनते हैं। जैसे आते ही, खाते ही आदि। अपूर्ण क्रिया द्योतक कृदन्त वर्तमान कालिक कृदन्त का विकृत रूप मात्र है—जैसे उसे काम करते देर हो गई। पूर्ण क्रिया द्योतक कृदन्त भूतकालिक कृदन्त का विकृत रूप है। जैसे उसे गये बहुत दिन हो गये।

संस्कृत कृदन्तों से बने हिन्दी कालों का सम्बन्ध संस्कृत कालों से सीधा नहीं है। संस्कृत कृदन्तों के आधार पर बने हुए हिन्दी कृदन्तों का

प्रयाग आधुनिक समय में काल के लिए होने लगा। कृदन्तों के रूपों को काल के स्थान पर प्रयुक्त करने का ढंग भी पुराना है। मूल कालों की कमी हो जाने से प्राकृत में भी इस तरह का कृदन्तों का प्रयोग पाया जाता है। आधुनिक काल में जब प्राचीन कालों के संयोगात्मक रूप नष्ट हो गये तो अधिकांश कालों की रचना के निमित्त कृदन्त रूपों का प्रयोग स्वाभाविक था।

केवल मात्र कृदन्तों से बने काल हिन्दी में तीन हैं। १. भूत निश्चयार्थ, २. भूत सम्भावनार्थ, ३. भविष्य आज्ञा। इनके लिए क्रम से भूतकालिक कृदन्त वर्तमान कालिक कृदन्त तथा क्रियार्थक संज्ञा का प्रयोग होता है। इन कृदन्ती कालों के इतिहास में कोई विशेषता नहीं रह जाती। मूल कृदन्तों के रूपों कें बहुवचन में एकारांत विकृत रूप (चले चलते) हो जाते हैं। स्त्रीलिंग एक वचन में ई (चली चलती) और बहुवचन में ईं (चलीं चलतीं) लगाई जाती है। इन कृदन्ती कालों के कारण ही हिन्दी क्रिया में लिंग भेद पाया जाता है। संस्कृत कर्मवाच्य भविष्य कृदन्त प्रत्यय 'तव्य' से सम्बन्ध ब अन्त वाले भविष्य काल का प्रयोग हिन्दी की अवधी आदि बोलियों में पाया जाता है।

प्रश्न ४१—संकेत-ग्रह किसे कहते हैं संकेत ग्राहकों का वर्णन करते हुए उनके स्वरूप का भी वर्णन करो।

संकेत-ग्रह की विशेष परिभाषा को शब्द-बद्ध करना कठिन है। व्यवहार के द्वारा संकेत-ग्रह की बात शीघ्र ही समझ में आ जाती है। बालक अनेक व्यक्तियों को बोलते और व्यवहार में लाते हुए अक्षरों को देखता है। तब वह स्वयं ही विभिन्न शब्दों के अर्थ समझ लेता है। बालक के शब्द ग्रहण की प्रक्रिया के द्वारा संकेत ज्ञान की बात स्वयं ही स्पष्ट हो जाती है। एक बड़ा पुरुष कहता है "गाय लाओ" दूसरा उसकी आज्ञानुसार गाय नामक पशु को ले आता है। बालक उसकी इस क्रिया से गाय शब्द का अर्थ संकेत द्वारा ग्रहण करता है। यही संकेत ग्रह

कहलाता है। पहले वालक व्यवहार द्वारा पूरे वाक्य का अर्थ ग्रहण करता है। फिर धीरे-धीरे अलग-अलग शब्द का अर्थ समझता है। इससे उसे ज्ञात हो जाता है कि किस शब्द का किस अर्थ में संकेत है।

संकेत के सात ग्राहक होते हैं। १. व्यवहार से, गुरु जन वालक को व्यवहार द्वारा कई शब्द समझा देते हैं। जिसे वह ग्रहण कर लेता है। वालक व्यवहार के द्वारा बड़ी शीघ्रता से शब्दों को सीखता है। आप्त पुरुषों के संकेत से भी बच्चा कई शब्दों को पकड़ता है। जैसे पुरुष कहता है यह पुस्तक है और पुस्तक उठा कर बच्चे का दिखाता है। बच्चा उसको देखकर झट समझ जाता है कि अमुक आकार वाली वस्तु पुस्तक कहलाती है। बच्चा व्याकरण से भी संकेत ग्रहण करता है। वह व्याकरण पढ़ता है। प्रकृति प्रत्यय आदि का ज्ञान अर्जन करता है। वह अनेक शब्दों को और अनेक शब्दों के वाक्यों को सहज ही में समझने लगता है।

इसके वाद का संकेत ग्राहक उपमान है। बच्चा उपमान से विभिन्न प्रकार की कल्पनाएँ कर लेता है। वह गाय को पहचानता है और 'गाय' शब्द को सुनकर वह गाय जैसे एक पशु की कल्पना स्वयं ही कर लेता है। इसी प्रकार मनुष्य का अर्थ समझ कर देव, किन्नर, गन्धर्व आदि देवताओं की योनियों की कल्पना स्वयं उपमान द्वारा ही कर लेता है। एक देव शब्द से वह अनेक शब्द अजर, अमर तथा मनुष्य से मानव नर आदि कई पर्यायवाची शब्दों को सीख लेता है। यदि बालक को इसमें किसी प्रकार का सन्देह रह जाता है तो वाक्य शेष द्वारा संकेत—निर्णय करता है। गंगा या जमना दोनों शब्द नदी और लड़की दोनों के लिए उपयुक्त हो सकते हैं परन्तु जब तक वाक्य में इनका प्रयोग नहीं होगा तब तक अर्थ-विभिन्नता का ज्ञान होना कठिन है। "गंगा की धारा वेगवती है" से गंगा शब्द नदी का बोध कराता है परन्तु "गंगा पाठशाला जा रही है" से शब्द 'गंगा' एक लड़की का अर्थ देता है। इस प्रकार वाक्य शेष से संकेत ग्रह हो सकता है। यव का अर्थ 'जव' भी होता है

और कंगुनी का चावल भी। आर्य लोगों के प्रसंग में 'यव' का अर्थ 'जव' होता है और मलेच्छ लोग 'यव' से कंगुनी का चावल समझते हैं। कुछ शब्द समझे हुए शब्दों के साथ आने से अनायास ही समझ में आ जाते हैं। सिद्ध पदों की सन्निधि से भी बालक बहुत सा संकेत ज्ञान प्राप्त कर लेता है। जैसे 'मधुप' कमल पर मंडरा रहे हैं। इस वाक्य से पाठक मधुप शब्द का अर्थ सहज में ही लगा लेगा। वसंत पिका कूजति से पिकः का अर्थ स्वयं स्पष्ट है। इतने पर भी जो शब्द समझ में नहीं आता उसे स्पष्ट करने के लिए विवृत्ति संकेत-ग्रह का आश्रय लिया जाता है। विवृत्ति का अर्थ होता है किसी को खोलना। शब्द को खोलने से अर्थ उसकी व्याख्या करने से है। व्याख्य देशी-विदेशी सभी भाषाओं के शब्दों को स्पष्ट कर देती है। यदि बालक रसाल का अर्थ नहीं समझता तो शिक्षक या तो रसाल का रंग-रूप बता कर उसकी व्याख्या करता हुआ अर्थ स्पष्ट करता है अथवा रसाल का ऐसा पर्यायवाची शब्द बताता है कि जो विद्यार्थी को पहले ज्ञात होता है। उसी भाषा में या दूसरी परिचित भाषा में अनुवाद करने समझने का नाम ही विवृत्ति है।

यदि हम ध्यानपूर्वक विचार करें तो पता चलता है कि सभी मंकेत के ग्राहक व्यवहार में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। बालक व्यवहार से सभी शब्द सीख सकता है। परन्तु इतने थोड़े वर्षो की आयु में संसार की समस्त वस्तुओं को सीखना अत्यन्त कठिन है अतः वही उपाय काम में लाया जाता है जिससे अधिक से अधिक शब्दों को कम से कम समय में सीखा जा सके। कोष, व्याकरण आप्तोपदेश, वाक्यशेष, विवृत्ति, सन्निधि उपमान आदि सात संकेत ग्राहक हैं। परन्तु इन सब में से व्यवहार के द्वारा हम अधिक शब्दों को कम समय में सीखते हैं। अतः यही सभी संकेत ग्राहकों का शिरोमणि है।

संकेत का क्या स्वरूप है ? या संकेत कहते किसे हैं ? आदि को जानना भी बहुत आवश्यक है। 'संकेत' समय को कहते हैं। इस शब्द से इस अर्थ का बोध होना चाहिए। इस अर्थ के लिए इस शब्द का

प्रयोग होना चाहिए। ये सब जानने के लिए समय की आवश्यकता पड़ती है। इस संकेत का ज्ञान प्रायः व्यवहार से ही होता है। अन्य संकेत ग्राहक रूपान्तर मात्र हैं। शब्द नित्य है। शब्द की शक्ति का ग्राहक नित्य है परन्तु उस शक्ति का ग्राहक संकेत अनित्य है। शब्द तो शताब्दियों से चला आता है और न जाने कितनी शताब्दियाँ चलेगा परन्तु संकेत निर्धारण करना प्रयोक्ता के हाथ में है। शब्द सदा किसी न किसी रूप में रहता है। जब लोग जैसा अर्थ शब्द से बना लेते हैं उसका वैसा ही अर्थ प्रतीत होने लगता है। प्रत्येक शब्द का अर्थ कहीं न कहीं उलझा रहता है जब शब्द उसका संकेत देता है तब वह अर्थ भी प्रकाश में आ जाता है जिससे शब्द विशेष का अर्थ बोध होने लगता है। अर्थ बोध वास्तव में होता है शब्द-शक्ति के ज्ञान से परन्तु संकेत ही उस सम्बन्ध का परिचायक होता है। अतः संकेत का महत्व पहले आँखों के सामने आता है। अतः संकेत-ग्रह अर्थ बोध का सहकारी कारण होता है। इस प्रकार मीमाँसकों के कथनानुसार लोगों की इच्छा संकेत बनाती है और लोक-व्यवहार से संकेत-ग्रह होता है। संकेत-द्वारा शक्ति-ग्रह होता है और शक्ति द्वारा अर्थ ग्रह अर्थात् शब्द-बोध होता है।

प्रश्न ४२—हिन्दी भाषा में उपसर्गों का वर्णन करो।

उपसर्ग-स्वदेशी

हिन्दी में थोड़े से तद्भव एवं तत्सम उपसर्गों का व्यवहार होता है। यहाँ ये दिए जाते हैं—

अ-, अन्—

ये संस्कृत के तत्सम उपसर्ग हैं और अभाव सूचित करने के लिए प्रयुक्त होते हैं। यथा—अबोध, अजान, अबेर।

अति—

यह भी संस्कृत-तत्सम उपसर्ग है। उदाहरण ये हैं—अति-काल 'देर', अति-अन्त, अति-अधिक।

अव्—

सं० अव्, हिन्दी के अवगुन् इत्यादि शब्दों में मिलता है।

कु

यह भी संस्कृत तत्सम उपसर्ग है। उदाहरण ये हैं—कुचाल, कुचैला, कुनजर।

दु, दुर्

संस्कृत दुर्>हि० दु-, यथा, दुबला<सं० दुर्बल-दुलार, इत्यादि। तत्सम-शब्दों में दुर् रूप मिलता है, यथा—दुर्बुद्धि।

सु ,स

सं० सु० हिन्दी में सु तथा स, दोनों रूपों में मिलता है? यथा—, सुफल, सुजान।

नि

स० निर्> हि० नि-, यथा—निरोग, निहंग। तत्सम शब्दों में निर् मिलता है, यथा—निर्दय।

उपसर्ग विदेशी

कम्

इसका मूल फारसी कम है यथा—कमजोर, कम-उमर्।

खुस्

इसका मूल फारसी खुश है यथा—खुसामद, खुस्बु।

गैर

इसका मूल फारसी गैर है यथा—गैर—आबाद, गैर-हाजिर।

'दर्

इसका मूल फारसी दर 'भीतर है; यथा—दर्बार, दर्कार।

ना

इसका मूल फारसी ना है; यथा—नाबालिग, नापसंद।

ला

इसका मूल फारसी ला है; यथा—लापता, लाचार्।

फी

इसका मूल फारसी-अरबी फी० 'प्रत्येक'। उदाहरण ये हैं—फी-मकान, फी-रुपया।

बद्

इसका मूल फारसी बद्-'बुरा' है; यथा—बद्नाम्, बद्जात।

बे

इसका मूल फारसी बे-'बिना' है; यथा—बेधड़क, बेचैन।

हर

इसका मूल फारसी हर-'प्रत्येक' है; यथा=हर-रोज, हरबार, हर-घड़ी।

अंग्रेजी के हेड (Head), हाफ् (Half) तथा सब् (Sub) उपसर्ग भी कई शब्दों में मिलते हैं; यथा—हेड् पंडित, सब डिप्टी।

प्रश्न ४३—हिन्दी भाषा में समासों का वर्णन करो।

समास

धातु तथा प्रत्यय के योग से शब्द बनते हैं और जब एक से अधिक शब्द मिलकर वृहत् शब्द की सृष्टि करते हैं, तब उसे समास कहते हैं। इस प्रकार के समासजात शब्द को समस्तपद भी कहते हैं। जब समस्त-पद में उसके सम्मिलित-शब्दों का विच्छेद किया जाता है तब उसे विग्रह की संज्ञा दी जाती है। समस्तपद में विभक्तियों का लोप हो जाता है, किंतु विग्रह में लुप्त-विभक्तियों को प्रकट करना पड़ता है। कभी-कभी समास बद्ध होने पर भी विभक्ति का लोप नहीं होता। ऐसी अवस्था में 'अलुक्-समास' होता है, जैसे, बँगला का घोड़ार गाड़ी घोड़ा गाड़ी; आदि।

समास भारोपीय-भाषा की विशेषता है और वह हिन्दी में भी वर्त-मान है। यह डा० चैटर्जी के बँगला-व्याकरण के आधार पर हिन्दी समास के सम्बन्ध में विचार किया जाता है। यहाँ पर यह जान लेना आवश्यक है कि अन्य आधुनिक-आर्य भाषाओं की भाँति ही हिन्दी में भी सब प्रकार

के शब्दों के मंयोग से समस्त पद बनते हैं। इन शब्दों के अन्तार्गत प्राकृ-तज, देशी, तत्सम, अर्द्धतत्सम तथा विदेशी, आदि, सभी शब्द आते हैं।

मोटे तौर तर समास के निम्न लिखित तीन विभाग किए जाते हैं।

संयोए-मूलक या द्वन्द-समास—इस प्रकार के समास में समस्यमान-पद-समह द्वारा दी या उससे अधिक पदार्थ (वस्तु या भाव) का संयोग प्रकाशित होता है, इनमें संयोगी पद स्वतंत्र होते हैं, एक दूसरे के आधीन नहीं होते।

व्याखान-मूलक या आश्रय-मूलक-समास—इस प्रकार के समास में प्रथम-शब्द द्वितीय शब्द की सीमावद्ध कर देता है। अथवा विशेषण रूप में होता है।

व्याखान मूलक समास के निम्नलिखित भेद हैं। क—तत्पुरुष—उपपाद, अलुकुतत्पुरुष नम्तत्पुरुष, आदि समास, नित्य समास, अव्ययी-भाव, सुप्-सुपा।

ख—रूपक, उनभित, उपनाम, मध्यपद लोपी।

ग—द्विगु।

वर्णनामूलक-समास—इस प्रकार के समास में समस्यमान पद मिल कर जो अर्थ प्रकाशित करते हैं। उसके द्वारा किसी अन्य पदार्थ का बोध होता है।

वर्णनामूलक समास की वहुव्रीहि नाम से अभिहित किया जाता है। इसके चार भेद हैं। उपाधिकरण वहुव्रीहि, समानाधिकरण-बहुव्रीहि, व्यतिहार बहुव्रीहि तथा मध्यलोपी वहुव्रीहि।

संयोगमूलक समास—द्वन्द्व शब्द का अर्थ है जोड़ा। इसमें समस्य-मान पद अपने रूप में ही विद्यमान रहते हैं। 'औ' 'और' 'एवं' 'तथा' संयोजक-वाक्यों के द्वारा ही उनका विग्रह सम्पन्न होता है। समस्यमान पदों में जो रूप अथवा उच्चारण में अपेक्षाकृत छोटा होता है, वही :प्राय

व्याख्यानमूलक या आश्रयमूलक समास—इसके अन्तर्गत समासों को निम्नलिखित तीन वर्गों में विभक्त किया जाता है—तत्पुरुष, कर्मधारय, द्विगु।

तत्पुरुष

तत्पुरुष में परस्पर अन्वित दो पद होते हैं। ये दोनों विशेष्य होते हैं जिनमें प्रथम-द्वितीय पद के साथ कर्म करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध, तथा अधिकरण रूप में होता है। इसमें द्वितीय पद का अर्थ ही प्रधान होता है।

तत्पुरुष का अर्थ है उसका सम्पर्की पुरुष। यह समस्त पद के प्रतीक अथवा नाम स्वरूप प्रयुक्त होता है। हिन्दी में भी द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्टी, सप्तमी तत्पुरुष मिलते हैं—उदाहरण क्रमशः ये हैं।

कर्मवाचक-द्वितीय तत्पुरुष—इसके उदाहरण हिन्दी में बहुलता से मिलते हैं, यथा—चिड़िमार, माखन चोर, इत्यादि।

करण वाचक-तृतीया-तत्पुरुष-यथा—आगजला।

उद्देश्यवाचक-चतुर्थी-तत्पुरुष–माल्-गोदाम। अपादानवाचक-पंचमी-तत्पुरुष-देशनिकाला इत्यादि।

सम्बन्धवाचक-षष्टी-तत्पुरुष—राम कथा, हाथ घड़ी। स्थानकाल-वाचक-सप्तमी-तत्पुरुष-घुड़-सवार।

(ख) कर्मधारय

इस समास में प्रथम पद विशेषण रूप में आता है, किन्तु द्वितीय पद का अर्थ बलवान होता है। कर्मधारय का अर्थ कर्म अथवा वृति धारण करने वाला। यह विशेषण-विशेष्य, विशेष्य-विशेषण तथा विशेष्य-विशेष्य पदों द्वारा सम्पन्न होता है।

साधारण कर्मधारय समास को निम्नलिखित-वर्गों में विभक्त किया जा सकता है।

जहाँ पूर्व पद विशेषण हो; यथा—कच्चा-केला, सीस-महल।

जहाँ उत्तरपद विशेषण हो; यथा—घनश्याम।

जहाँ दोनों पद विशेष्य हों; तथा—लाल-पीला।

जहाँ दोनों पद विशेषण हों; यथा—मौलवी-साहब।

अवधारण-पूर्वपद—जिस कर्मधारय-समास में प्रथम-पद के अर्थ के सम्बन्ध में अवधारण हो अर्थात् जहाँ अर्थ के प्रति विशेष बल दिया जाय, वहाँ अवधारण-पूर्व पद कर्मधारय होता है, यथा—

काल सर्प (जो सर्पकाल रूप होकर आया हो)।

जहाँ प्रथम पद सर्वनाम, उपसर्ग या संख्यावाचक हो; यथा—स्व-देशी, दुतल्ला।

मध्यपद-लोपी कर्मधारय—जहाँ कर्मधारय समास के निग्रह वाक्य में मध्यस्थिति-व्याख्यान-मूलक-पद का लोप हो जाता है; यथा—घनश्याम।

रूपक कर्मधारय—जहाँ उपनाम-उपमेय की अभिन्नत्व प्रदर्शित करे; यथा—मुख-चन्द्र।

द्विगु

जहाँ प्रथम-पद संख्यावाचक होता है तथा समस्त-पद द्वारा संयोग अथवा समष्ठि का बोध होता है, वहाँ द्विगु-समास होता है; यथा—चौमुहानी।

वर्णनात्मक अथवा बहुव्रीहि-समास

इस समाज में कोई भी पद प्रधान नहीं होता और इसके समस्त-पद द्वारा किसी अन्य ही पदार्थ का बोध होता है। इसके विग्रह में जो, जिसके, जिसका आदि शब्दों का व्यवहार होता है। इसके निम्नलिखित भेद हैं—

व्याधिकरण-बहुव्रीहि—जिसमें पूर्वपद विशेषण न हो; यथा—शूलपाणि।

समानाधिकरण बहुव्रीहि—जिसमें पूर्वपद विशेषण एवं उत्तर-पद विशेष्य हो; यथा—पीताम्बर।

व्यतिहार-बहुब्रीहि—जिसमें परस्पर साक्षेप-क्रिया को करने के लिए एक ही शब्द का पुनुरूक्ति की गई हो; यथा—मुक्का मुक्की।
मध्यपद लोपी-बहुब्रीहि—जहाँ विग्रह वाक्य में आगत पद लुप्त हो जाता है। यथा-डेढ़-गजा (डेढ़ गज लम्बाई हो जिसकी) दो-फुट।

अव्ययी भाव समास

इसका प्रथम पद साधारणत: अव्यय होता है; यथा———हर-रोज, दिन-भर।

अनेक-स्थलों में शब्दों को द्वित्व कर वीप्सा पौना:पुन्य का भाव भी इसके द्वारा प्रकट होता है; यथा—चल्ते चल्ते, हँस्ते-हँस्ते।

प्रश्न ४४—ब्रजभाषा और अवधी का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

ब्रजभाषा को ब्रजभाखा भी कहते हैं। यह ब्रज मण्डल की भाषा है। गंगा-यमुना का भाग अत्यन्त पवित्र होने के कारण अन्तर्वेद भी कहलाता है अत: इस भाषा को अन्तर्वेदी भी कहा जाता है। इन दोनों नामों के द्वारा ब्रजभाषा के क्षेत्र का भली-भाँति बोध नहीं होता। वैसे ब्रजभाषा का क्षेत्र आधुनिक मथुरा का जिला है। इसी के अन्तर्गत कृष्ण की लीलाभूमि गोकुल तथा बृन्दावन है परन्तु ब्रजभाषा का क्षेत्र इससे अधिक विस्तृत है।

ब्रजभाषा के लिये संक्षिप्त रूप से ब्रज का प्रयोग होता है। इटावा, फ़र्रुखाबाद, आगरा आदि की बोली को अन्तर्वेदी कहा जाता है; इनमें से फ़र्रुखाबाद तथा इटावा की भाषा तो कनौजी है तथा शेष की ब्रज।

ब्रजभाषा का क्षेत्र बहुत व्यापक है। यदि मथुरा को ब्रजभाषा का केन्द्र मान लिया जाये तो उसके आसपास आगरा, जयपुर, धौलपुर, ग्वालियर, बुलन्दशहर, गुड़गाँवा, बरेली, एटा, मैनपुरी आदि में सभी तरफ ब्रजभाषा ही बोली जाती है। इसका कुल क्षेत्र लगभग २७ हज़ार वर्गमील है और इसके बोलने वालों की संख्या ७९ लाख के लगभग है।

ब्रजभाषा सभी स्थानों पर एक जैसी नहीं बोली जाती। चूंकि भाषा परिवर्तनशील है अत: विभिन्न स्थानों पर बोली जाने वाली ब्रजभाषा में

यत्किञ्चित् अन्तर है। जैसे मथुरा, अलीगढ़ तथा आगरे की भाषा पूर्णतया ब्रजभाषा है। अलीगढ़ के उत्तर में बुलन्दशहर की भाषा में यत्किञ्चित् खड़ी बोली का प्रवेश है।

बुलन्दशहर की भाषा में व्याकरण सम्बन्धी किञ्चित् भिन्नता है। जैसे—ब्रज का औ प्रत्यय वहाँ ओ में परिणत हो जाता है यथा चल्यौ के स्थान पर चल्यो हो जाता है।

आगरे के पूर्वी भाग में, करौली तथा धौलपुर में सुन्दर और आदर्श ब्रजभाषा का प्रयोग होता है। फिर भी उसमें एक हल्का सा अन्तर दिखाई पड़ता है यथा—कृदन्ती रूप से 'य' का लोप हो गया है—चल्यौ के स्थान पर चलौ का प्रयोग होता है। इसी प्रकार एटा, मैनपुरी तथा बुलन्दशहर की भाषा में भी य का लोप दिखाई पड़ता है और 'औ' के स्थान पर 'ओ' का प्रयोग मिलता है। जैसे—चलो। इसी प्रकार ग्वालियर, बरेली आदि की भाषा में भी अन्तर है। गुड़गाँवा की ब्रजभाषा मेवाती में मिल जाती है। नैनीताल की तराई में इस भाषा ने एक मिश्रित् भाषा का रूप ले लिया है। वहाँ इस भाषा को 'भुक्सा' कहते हैं। डा० ग्रियर्सन ने इस बोली को ब्रजभाखा के अन्तर्गत रखा है। उनका मत है कि यह भाषा खड़ी बोली और कनौजी के अन्तर्गत भी आ सकती है।

इस प्रकार ब्रजभाषा के इस अन्तर के कारण विभिन्न स्थानों में इसका नाम बदल गया है। जैसे कनौज की बोली को अन्तर्वेदी कहते हैं। ग्वालियर के उत्तर-पूर्व में धौलपुर के सामने की बोली को सिकरवाड़ी कहते हैं। करौली के मैदान की बोली यादव राजपूतों के कारण जादोवारी कहलाती है। भरतपुर के दक्षिण में जयपुर के पूरवी प्रदेश की बोली को डाँग कहते हैं। इस प्रकार यह सभी भाषाएँ ब्रजभाषा की उपभाषाएँ हैं—यथा डाँगी, डूँगरवारा, डाँगभाँग, भुक्सा, जादोवारी, सिकरवाड़ी आदि।

डा० ग्रियर्सन के आधार पर हिन्दुस्तानी की अपेक्षा ब्रजभाषा

पश्चिमी-हिन्दी की श्रेष्ठतर प्रतिनिधि है। व्याकरण सम्बन्धी विशेषता की दृष्टि से इसका हिन्दुस्तानी से अधिक महत्व है। वस्तुत: हिन्दुस्तानी पश्चिमी-हिन्दी के उत्तर-पश्चिमी कोने की बोली है। और इस पर पंजाबी का अधिक प्रभाव है। पंजाबी की भाँति ही हिन्दुस्तानी में भी तद्भव संज्ञापद ओकारान्त तथा औकारान्त न होकर आकारान्त होते हैं यथा घोड़ा (घोड़ो या घोड़ौ नहीं) इसी प्रकार हिन्दुस्तानी में गा प्रत्यय भविष्यतकाल में लगता है।

व्रजभाषा में कभी-कभी नपुंसक लिंग भी मिलता है। यही लिंग व्रजभाषा की प्राचीनता का द्योतक है। क्योंकि उत्तर-भारत में यह लिंग लुप्त हो चुका है। साहित्यिक व्रजभाषा की अपेक्षा ग्रामीण व्रजभाषा में यह लिंग अधिक मात्रा में मिलता है।

हिन्दी से तुलना करने पर व्रज के सर्वनामों में पर्याप्त भिन्नता प्रकट होती है। हिन्दी 'मैं' के लिए व्रज में 'हौं' सर्वनाम ही प्रयुक्त होता है। जहाँ तक क्रिया का सम्बन्ध है, सहायक-क्रिया के रूप प्राय: हिन्दी के समान ही हैं। किन्तु भूतकाल के रूपों में विशेष भेद है। क्योंकि यहाँ सहायक क्रिया के रूप में हौ तथा हुतौ का प्रयोग होता है वहाँ हिन्दी में इसके लिए 'था' व्यवहृत होता है।

हिन्दी में सम्भाव्य वर्तमान का रूप वास्तव में वर्तमानकाल का ही रूप है। व्रजभाषा में यह वर्तमान काल के ही मूल भाव को प्रकाशित करता है। निश्चित वर्तमान का रूप व्रजभाषा में हिन्दी की तरह ही बनता है। व्रजभाषा में भविष्यतकाल के रूप साधारण वर्तमान के रूपों में गौ करने से सम्पन्न होते हैं जैसे मारौं गौ। किन्तु यहाँ प्राय: धातु में इह अथवा एह प्रत्यय जोड़ करके भविष्यत के रूप बनते हैं। यह रूप वस्तुत: सीधे संस्कृत से व्रजभाषा में आये हैं।

व्रजभाषा का केन्द्र अधिकतर बल्लभ सम्प्रदाय रहा। इस भाषा में तभी से कृष्ण साहित्य लिखा जाने लगा। धी... भाषा के प्रति

इतना आकर्षण बढ़ा कि सम्पूर्ण हिन्दी प्रदेश में इसने साहित्यिक भाषा का स्थान ले लिया। किन्तु १६वीं शताब्दी में साहित्य क्षेत्र में इस भाषा के बदले खड़ी बोली की स्थापना हुई। व्रजभाषा का मुख्य केन्द्र तभी से मथुरा हो गया। इस केन्द्र स्थल से यह जहाँ-जहाँ, जिस-जिस ओर गई, वहाँ की भाषाओं के संसर्ग में आने के कारण इसमें कुछ न कुछ परिवर्तन हो गया।

अवधी भाषा देखने और सुनने से ऐसे प्रतीत होती है मानो यह केवल अवध प्रान्त की ही भाषा हो, परन्तु ऐसी बात नहीं है। इस भाषा का क्षेत्र बड़ा विस्तृत है। यह भाषा पूर्वी-हिन्दी की सबसे अधिक महत्वपूर्ण भाषा है। यह एक ओर हरदोई, खीरी तथा फैज़ाबाद के कुछ भाग में बोली जाती है तो दूसरी ओर फतेहपुर, इलाहाबाद, केराकत तहसील को छोड़कर मिर्ज़ापुर जौनपुर आदि में बोली जाती है।

इसके पूर्वी बोली तथा कौशली बोली भी नाम हैं। पूर्वी बोली से वास्तव में तात्पर्य पूरब की बोली से है। परन्तु कभी-कभी अवधी तथा भोजपुरी दोनों को ही पूर्वी बोलियों के नाम से अभिहित किया जाता है। वास्तव में पूर्वी शब्द को पूर्वी हिन्दी के लिए ही प्रयुक्त करना चाहिए। यदि कौशली को इस भाषा का प्राचीन नाम स्वीकार कर लिया जाये तो छत्तीसगढ़ी भाषा भी इसके अन्तर्गत आ जायगी। रामचरितमानस तुलसीदास का इतना प्रसिद्ध हो चुका है कि अवधी भाषा को भी इसके साथ वही प्रसिद्धि प्राप्त हो चुकी है। भाषा सर्वे के आधार पर अवधी को कई बार बैसवाड़ी के नाम से भी बुलाया जाता है। बैसवाड़ी भाषा राजपूतों की बोली है जो अवधी से अधिक कर्णकटु होती है। इसमें 'एँ' का उच्चारण 'य', ओ का 'व' एवं ए के उच्चारण या तथा ओ के उच्चारण वा में परिणत हो जाते हैं।

अवधी के पश्चिम में पश्चिमी हिन्दी की दो बोलियाँ-कनौजी और बुंदेली हैं और इसके पूरब में भोजपुरी का क्षेत्र है। अतः कनौजी और बुंदेली अवधी के काफी निकट हैं।

अवधी भाषा के सम्बन्ध में डा० सक्सेना ने अपना तर्क इस प्रकार दिया है। उनका कहना है कि पूर्वी हिन्दी का सम्बन्ध जैन अर्द्धमागधी की अपेक्षा पाली से अधिक है। वास्तव में पाली जैन अर्द्धमागधी से पुरानी भाषा है। इधर जैन अर्द्धमागधी ग्रन्थों का सम्पादन तो ईस्वी सन् की पाँचवी शताब्दी में हुआ था। इससे हम यह कल्पना कर सकते हैं कि प्राचीन अर्द्धमागधी बाद की अर्द्धमागधी से भिन्न है और इस प्राचीन अर्द्धमागधी से ही अवधी की उत्पत्ति हुई। डा० सक्सेना के अनुसार तो अवधी का सम्बन्ध अर्द्धमागधी की अपेक्षा पाली से अधिक है। क्योंकि पाली के सम्बन्ध में जो अनुसंधान हुए हैं उनसे पता चला है कि पाली के व्याकरण का ढाँचा मध्य देश का है और पाली वस्तुतः साहित्यिक भाषा है तथा अवधी की उत्पत्ति किसी न किसी बोल चाल की भाषा से हुई होगी। अब प्रश्न उठता है कि वह कौन सी भाषा है—डा० सक्सेना के अनुसार वह पुरानी अर्द्धमागधी ही होगी।

अवधी के भाषाभाषी बहुत अधिक पाये जाते हैं उनकी संख्या लगभग दो करोड़ है। वस्तुतः यह जिस क्षेत्र की भाषा है उसका भारतीय इतिहास में अत्यधिक महत्व है। प्राचीन काल में यह देश कौशल नाम से प्रसिद्ध था। साकेत वर्तमान अयोध्या इसकी राजधानी थी। बौद्धकाल में भी यह देश अत्यन्त महत्वपूर्ण था। बुद्ध ने अपने जीवन का अधिकाँश भाग सावत्थी तथा कौशल राज्य में बिताया। प्रयाग अथवा इलाहाबाद का क्षेत्र भी अवधी क्षेत्र के अन्तर्गत है। इन स्थानों का गुप्त, मुगल तथा ब्रिटिश-काल में बड़ा महत्व रहा। अवध के शिया नवाब तो अपनी शानशौकत तथा उच्च संस्कृति के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध थे। लखनऊ के महत्व तो आज भी अक्षुण्ण है।

अवधी के अन्तर्गत ही बघेली है जिसका केन्द्र रीवाँ राज्य है। यहाँ के राजा लोग केवल विद्या एवं कलानुरागी नहीं थे, अपितु वे कवि भी थे। भारत में संगीतज्ञों के शिरोमणि तानसेन पहले रीवाँ राज्य के राजा रामचन्द्र सिंह के दरबार में थे जहाँ से वे अकबर के यहाँ गए।

अवधी में प्रचुर-साहित्य रचना हुई। प्रेममार्गी सूफि-कवियों, कुतवन, मंझन, नूर मुहम्मद उस्मान ने इसी भाषा में लिखा। जायसी तो इस भाषा के सम्राट थे। गो० तुलसीदास ने इसे अपने जगत प्रसिद्ध काव्य रामचरितमानस की रचना से अलंकृत किया। आजकल अवधी क्षेत्र की साहित्यिक भाषा हिन्दी है। किन्तु साधारण जनता पारस्परिक बातचीत में प्रायः अवधी का व्यवहार ही करती है। उधर बीच में इसमें साहित्य रचना का कार्य बन्द हो गया था परन्तु इधर नवजागरण के साथ-साथ अवधी में पुनः साहित्यिक रचना प्रारम्भ हुई। ऐसे साहित्यिकों में वंशीधर शुक्ल, रमई काका आदि हैं। अवधी की विभाषाएँ डा० सक्सेना के अनुसार तीन हैं। पश्चिमी, केन्द्रीय तथा पूर्वी। खीरी, सीतापुर, लखनऊ, उन्नाव, फतेहपुर की पश्चिमी अवधी, बहराइच, बाराबंकी तथा रायबरेली की केन्द्रीय अवधी, गौंड़ा फैजाबाद, सुल्तानपुर, इलाहाबाद, जौनपुर तथा मिर्जापुर की अवधी पूर्वी के अन्तर्गत आती है।

इस बार दो भाषाएँ—अवधी और ब्रजभाषा पर्याप्त महत्वपूर्ण हैं। हिन्दी साहित्य का रीति-काल तथा भक्तिकाल इन्हीं दोनों भाषाओं के माधुर्य से मधुर है। आज भी सहृदय पाठक ब्रज और अवधी के मोह को नहीं त्याग सकते।

प्रश्न ४४—खड़ी बोली की उत्पत्ति और विकास पर एक निबन्ध लिखो।

आरम्भ से ही खड़ी बोली के विषय में एक भ्रम सा रहा है। कई विद्वानों का कहना है कि खड़ी बोली का प्रादुर्भाव अंग्रेजों के भारतवर्ष में आने से हुआ। यह बात तथ्य पूर्ण ज्ञात नहीं होती क्योंकि खड़ी बोली की प्राचीनता के विषय में अनेकों प्रमाण मिल चुके हैं। जिसका विवरण करना ही हमारा आशय है। इससे खड़ी बोली शब्द की व्युपत्ति के विषय में जानकारी प्राप्त कर लेनी आवश्यक है। खड़ी बोली में 'खड़ी' शब्द पर कई अर्थ निकाले जा सकते हैं। यथा—

१. खड़ी बोली अच्छे या खरे नागरिकों की बोली है।

२. खड़ी बोली में एक प्रकार का खड़ापन है। अंग्रेजी में जिसे Bluntness कहते हैं। भाव यह है कि इसमें माधुर्य और सौम्यता कम है।

३. खड़ी बोली को खरी बोली भी कहा जा सकता है। अर्थात् शुद्ध भाषा। यह अर्थ सार्थक है। ब्रज और अवधी की अपेक्षा इस बोली का स्वर थोड़ा खड़ा है। इसमें अक्खड़पन है। इस प्रकार का काठिन्य है। इसलिए इसे खड़ी बोली कहा गया है।

खड़ी बोली का प्रारम्भ अंग्रेजों के आने के बाद हुआ इस भ्रम का निराकरण करने के लिए अनेक मत दिए जा सकते हैं।

१. यह भाषा अवधी और ब्रज की समकालीन है।

२. इसका आविर्भाव अपभ्रन्श से हुआ—हरियाने से बुलन्दशहर तक और मेरठ से मुजफ्फरगढ़ तक जो अपभ्रन्श बोली जाती थी उससे खड़ी बोली निकली।

हेमचन्द्र के व्याकरण शब्दानुशासन में खड़ी बोली के उदाहरण मिलते हैं। जैसे—'भल्ला हुआ जो मारिया, बहिणि म्हारा कंतु' खड़ी बोली की आकारान्त प्रवृत्ति, म्हारा, मारिया आदि में, उसे अवधी और ब्रज भाषा से अलग करती है। इससे स्पष्ट है कि इसका प्रादुर्भाव १२ वीं शताब्दी से पूर्व हो चुका था।

वीसलदेव रासो से प्रमाणित हो चुका है कि यह १५ वीं शताब्दी का ग्रन्थ है। इसमें मोती का आशा किया, चित्त फाट्या, मन उचट्या आदि शब्दों का प्रयोग है। वैसे वीसलदेव रासो अत्यंत संदिग्ध रचना है अतः इसको आधार मान कर कोई निश्चित् प्रमाण नहीं दिया जा सकता।

अमीर खुसरो की कविता का महत्व भी खड़ी बोली के कारण है। अमीर खुसरो विनोदी प्रकृति के जीव थे। दरबारी भद्रता के साथ-साथ नागरिक कविता की उद्भावना भी मिलती है। जैसे 'एक थाल मोती से

भरा, सबके सिर पर औंधा धरा चारों ओर वह थाली फिरे, मोती उनमें से एक न गिरे।' इस पद में न कोई व्याकरण चिन्ह है और न ही कोई संज्ञा। ऐसा मालूम पड़ता है कि इसे खड़ी बोली बनाने के लिए शुद्ध करना पड़ेगा। खुसरो की कविता का सम्पादन ८वीं और ९वीं शताब्दी में हुआ और किसी प्रकार के अभाव में इसे ही खड़ी बोली का जनक कहना चाहिए।

कबीर की कविता में भी खड़ी बोली का प्रभाव है। जैसे—उठा बबूला प्रेम का, तिनका उड़ा अकास।

इसमें 'का' खड़ी बोली का सम्बन्ध कारक है। तिनका अकारान्त है।

हिन्दी और उर्दू का भेद तो शेरशाह के काल से माना जाता है। इससे पहले हिन्दी और उर्दू में कोई भेद नहीं था। १६२७ सं० में लिखी हुई एक रचना गंगा भट्ट की मिलती है जिसका नाम चन्द छन्द वर्णन महिमा है। यह एक छोटी सी कृति है। इसकी खड़ी बोली परिमार्जित और परिष्कृति नहीं है फिर भी ऐतिहासिक महत्व असंदिग्ध है। इस पर उर्दू का प्रभाव अवश्य है। तख्त, आम, खास, तमाम आदि उर्दू के शब्द हैं। इसमें व्रज भाषा मिश्रित खड़ी बोली अरबी और फारसी के शब्द मिलते हैं।

रामप्रसाद निरंजनी का योग वशिष्ठ लिखा गया। जटमल की गोराबादल की कथा ने खड़ी बोली का परिमार्जित रूप उपस्थित किया। १८२४ में दौलतराम नामक लेखक ने जैन पक्ष पुराण रविपैनाचार्य कृत, का भाषानुवाद किया। निरंजनी की भाषा इतनी परिमार्जित नहीं क्रिया पदों की इसमें व्यवस्था नहीं। फिर भी उर्दू और फारसी के प्रभाव से मुक्त खड़ी बोली गद्य का रूप मिलता है। रविपैणाचार्य का कहीं-कहीं हरिपैणाचार्य नाम आता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये दक्षिण पश्चिम में रहते थे। क्योंकि इनकी भाषा पर गुजराती का प्रभाव है।

भापा में पण्डिताऊपन हैं। क्रिया पद आदि भ्रष्ट हैं और विराम चिह्न कम है। अधिकरण आदि का प्रयोग भी कम है।

सम्वत् १८३० से १८४० के बीच में किसी अज्ञात लेखक के द्वारा मंडोवर का वर्णन नामक रचना लिखी गई। यह खड़ी बोली गद्य का अच्छा ग्रन्थ है। इसमें उर्दू और फारसी का प्रयोग है।

यहाँ पर माँडव ऋषि का आश्रम था इसलिए इसका नाम मंडोवर पड़ा। मंठोवर बिगड़ कर मंडोवर शब्द बना।

चकत्ता की पातशाही राजस्थानी गद्य में लिखी हुई एक रचना है। इसमें अंग्रेजी राज्य की व्यवस्था का वर्णन है। इसके गद्य के दो रूप थे। पहला भाखा जो साधारण हिन्दुओं के द्वारा बोला जाता था। दूसरा दरबारी रूप जो मुसलमानों के सम्पर्क से बना। पहला हिन्दी रूप और दूसरा भाखा रूप। अब भी कई लोग उर्दू को हिन्दी खड़ी बोली की शैली मात्र मानते हैं। किन्तु दोनों का उद्गम एक है यद्यपि भापाएँ भिन्न-भिन्न हैं। अंग्रेजी में इन्हें दो रूपों में ग्रहण किया गया। हिन्दवी या हिन्दुई। दूसरा हिन्दुस्तानी।

इन्हीं दिनों लगभग सम्वत् १८५७ में फोर्ट विलियम कौलिज की कलकत्ता में स्थापना हुई। अंग्रेज भारत में एक व्यापारी के रूप में ईस्ट इण्डियन कम्पनी की स्थापना करने आये थे। यह कम्पनी शासक बन बैठी और आधुनिक भारतीय भाषाओं के द्वारा शिक्षण प्रणाली को अपनाया। इससे पाश्चात्य साहित्य तथा संस्कृति के आदान प्रदान का केन्द्र यही कम्पनी ही बन गई। जान गिलक्राइस्ट इस कोलिज के अध्यक्ष थे। उन्होंने हिन्दी उर्दू में पुस्तकें लिखाने का कार्य किया जिसके लिये कई मुंशियों की नियुक्ति कर दी। प्रधान रूप से हिन्दी इतिहासकारों का यह विचार है कि जानगिल क्राइस्ट हिन्दी को उर्दू से भिन्न स्वतन्त्र तथा विशिष्ट भाषा मानते हैं। यह उनका भ्रम है। भाषा मुंशियों में श्री लल्लूलाल और सदल मिश्र नामक पंडितों ने हिन्दी खड़ी बोली गद्य में पुस्तकें लिखीं। इन मुन्शियों में एक गंगाप्रसाद शुक्ल भी

थे। इन्होंने क्या लिखा, इसको कुछ निश्चित् रूप से नहीं कहा जा सकता। परन्तु इससे यह समझना भूल है कि हिन्दी खड़ी बोली का जन्म फोर्ट विलियम कौलिज से हुआ था, ईसाइयों की प्रेरणा से ही इसका जन्म हुआ। जिन दिनों ये दो आचार्य पुस्तकें लिखने के प्रयत्न में थे उन्हीं दिनों दिल्ली निवासी मुंशी सदासुखलाल तथा मुंशी इंसा अल्लाखाँ ने भी क्रमशः सुखसागर तथा रानी केतकी की कहानी नामक पुस्तकों की रचना की। डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने इस बात का विशेष अध्ययन किया कि कौलिज के द्वारा किया गया कार्य किस सीमा तक हिन्दी की उन्नति का इच्छुक है। डा० साहब का कहना है कि यद्यपि क्राइस्ट स्वयं हिन्दी के अनुकूल है परन्तु उनके द्वारा किया गया कार्य अंग्रेजी सभ्यता का प्रचार मात्र है। क्योंकि उन दिनों समस्त साहित्य पेम्फलेट तथा प्रचारात्मक पुस्तकों के रूप में ही था। अतः कहना पड़ेगा कि पूर्व कथित चार आचार्यों ने हिन्दी खड़ी बोली गद्य को आगे बढ़ाने में विशेष सहयोग दिया।

मुंशी सदासुखलाल नियाज़ दिल्ली निवासी थे। ईस्ट इंडिया कम्पनी की आधीनता में यह एक अच्छे पद पर कार्य करते थे। इनकी भाषा निखरी हुई और सुव्यवस्थित थी। तत्काल प्रचलित पंडिताऊ प्रयोग इनमें मिल जाता है। फिर भी इनकी भाषा में संस्कृत मिश्रित भाषा का प्रयोग है। इनकी भाषा शिष्ट-जन-व्यवहृत है। भाषा में सहज प्रवाह है इसलिये स्वाभाविकता तथा स्पष्टता पाई जाती है।

मुंशी सदासुखलाल के साथही मुँशी इन्शा अल्ला खाँ ने उदयभानु-चरित या रानी केतकी की कहानी में सहज भाव ही इनका लिखने का उद्देश्य था—भाषामें "हिन्दवी की छुट और किसी भाषा की पुट" न हो। फिर भी इनकी इच्छा थी कि जैसे भले लोग—'अच्छों से अच्छे—आपस में बोलते चालते हैं ज्यों का त्यों उसी का डौल रहे और छाँव किसी की न हो'। इसीलिए इनकी भाषा स्वाभाविक न होकर प्रयत्नशील रही है। इन्होंने संस्कृत और उर्दू आदि से बचने का भरसक प्रयास किया है।

फोर्ट विलियम कौलिज से सम्बद्ध लाला लल्लूलाल जी ने 'प्रेमसागर' नाम की पुस्तक भागवत की कथा के आधार पर लिखी। उनकी भाषा में व्रज भाषा का प्रभाव है। इनकी बोली में वह प्रवाह नहीं जो सदासुखलाल की बोली में मिलता है। पंडित सदल मिश्र की भाषा अधिक व्यवहारिक तथा सुथरी है। इन्होंने नासिकेतोपाख्यान नाम की पुस्तक लिखी। इनकी भाषा में पूर्वी प्रयोग मिलते हैं और परवर्ती साहित्य की अच्छी मार्गदर्शक कही गई है। यद्यपि इनकी भाषा में व्यवस्था और चुस्ती है फिर भी कौलिज के अधिकारियों को इनकी भाषा अधिक पसंद नहीं थी। परन्तु इनकी भाषा में भावी खड़ी बोली हिन्दी का परिमार्जित रूप अवश्य था। आगे चलकर जो भाषा गृहीत हुई उसमें गठन आदि बहुत कुछ सदल मिश्र की भाषा से मिलती-जुलती थी।

उन्नीसवीं शताब्दी में आधुनिक हिन्दी का जन्म हुआ; इसके साथ ही साथ सरकार की ओर से उसकी उपेक्षा आरम्भ हो गई तथापि पाठ्यक्रम में हिन्दी को स्थान दिया गया। परन्तु न तो इसे अदालतों में स्थान प्राप्त था न शासन के अन्यान्य क्षेत्रों में। जब शिवप्रसाद सितारे हिन्द इस क्षेत्र में आये तो उन्होंने फारसी लिपि का मुक्त कण्ठ से विरोध किया। वे शुद्ध संस्कृत मिश्रित हिन्दी लिखते थे। इनके उद्योग से बनारस, सुधाकर और बुद्धि प्रकाश नाम के पत्र निकले। इनकी भाषा के प्रति प्रतिक्रिया यहीं समाप्त नहीं हुई। इनके ही सहयोगी राजा लक्ष्मण सिंह ने हिन्दी के प्रचारार्थ विशेष सहयोग दिया। इन्होंने कहा था कि हिन्दी और उर्दू दोनों बोलियें न्यारी-न्यारी हैं। इनकी भाषा में तद्भव शब्दों की संख्या कम है और व्रज भाषा के प्रभाव से सर्वथा मुक्त है। इनके मेघदूत और शाकुन्तला के अनुवाद बड़े लोकप्रिय हैं।

इनके पश्चात् धार्मिक और सामाजिक दुनिया में सबसे अधिक महत्वपूर्ण क्रान्ति लाने वाली संस्था आर्यसमाज की संस्थापना हुई। इस संस्था के संस्थापक स्वामी दयानन्द थे। इन दिनों शास्त्रार्थ की धूम मची थी। उत्तर प्रत्युत्तरों, व्यंग्यों, कटाक्षों से पत्र भरे रहते थे और

हिन्दी का भावी गद्य नवीन शक्तियों से सुसज्जित हो रहा था । *आर्य-समाज का सबसे बड़ा गढ़ पंजाब था जहाँ उर्दू का जोर था । हिन्दी की शक्ति कम थी । इनके तथा इनके शिष्यों के प्रयत्नों से हिन्दी को शक्ति मिली । इसके अध्ययन पर बल दिया गया उधर बाबू नवीनचन्द्र राय हिन्दी तथा ब्राह्म धर्म का प्रचार करने के लिए उठ खड़े हुए परन्तु इनका प्रभाव अधिकतर बंगाल तक ही सीमित रहा । इन्हीं दिनों ब्राह्म धर्म के प्रचारार्थ राजा राममोहनराय ने भी छोटी मोटी पुस्तकें लिखीं । हिन्दी के बहुत से समाचार पत्रों को चलाने का श्रेय इन्हीं को है । श्रद्धाराम फिलौरी ने आर्यसमाज के आविर्भाव के साथ-साथ ही नवीन चेतना तथा धार्मिक उत्साह को लेकर नवीन सामाजिक चेतना का उत्साह भरा और लोगों का ध्यान ईसाई-धर्म से हिन्दू धर्म की ओर आकृष्ट किया । इन्होंने कई पुस्तकें लिखीं-यथा, धर्म रक्षा, धर्मोपदेश. तत्वदीपक आदि । भाग्यवती नाम का उपन्यास भी लिखा । श्रद्धाराम फिलौरी का गद्य सुलझा हुआ तथा प्रौढ़ था । उसमें कठिन आध्यात्मिक तथ्यों को समझाने की चेष्टा की गई थी । इस प्रकार इन लोगों के प्रयत्न से नवीन-युग चेतना का स्वागत करने के लिए भूमि तैयार हो चुकी थी ।

बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में भारतवर्ष की साहित्यिक चेतना राष्ट्रीय चेतना का रूप लेकर आई । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इसमें अग्रगण्य हैं । आगे चलकर तो अनेकों कवियों यथा—हरिऔध, श्रीधर पाठक, गुप्त, प्रसाद, महादेवी वर्मा, निराला, पंत आदि तथा श्यामसुन्दरदास, महावीरप्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल आदि के नाम हिन्दी खड़ी बोली को आगे बढ़ाने में अग्रगण्य हैं । हिन्दी खड़ी बोली का क्षेत्र आगे जाकर इतना विस्तृत तथा अथाह हुआ कि उसमें कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, पत्र, जीवनियाँ आदि सभी समाहित हो गईं । प्रसाद काल सम्भवत: हिन्दी खड़ी बोली का स्वर्णकाल था । जो सम्पन्नता और समृद्धि उस काल की भाषा, साहित्य आदि में मिलती है उतनी अन्यत्र दुर्लभ है ।